प्रकाशक :—

शंकरदान शुभैराज नाहटा

५।६, आर्मेनियन स्ट्रीट,

कलकत्ता।

मुद्रक :—

भगवतीप्रसाद सिंह

न्यू राजस्थान प्रेस,

७३।ए, चासाधोबापाड़ा स्ट्रीट,

कलकत्ता।



श्री शंकरदानजी नाहटा

समर्पण

[illegible]

किञ्चित् वक्तव्य

न्याय से यह चरित्र स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करते हुए हमे हर्ष होता है।

हमे यह देख कर दुःख होता है कि लोगों मे साहित्यिक रुचि का बड़ा ही अभाव है। खास कर राजस्थानी और जैन साहित्य के प्रति तो हिन्दी भाषा-भाषियों का रुख बड़ा ही विचारणीय है। यदि यह विचार किया जाय तो प्रमाणित होगा कि ये दोनों साहित्य भारतीय भाषाओं मे संस्कृत को छोड़ कर बाकी किसी भी भाषा के साहित्य-भंडार से टक्कर ले सकते हैं। पर जैन समाज और राजस्थानी संसार अपनी इस साहित्य निधि को इस प्रकार भुलाये बैठा है मानो उससे उसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। यदि हम और भी संकुचित दृष्टि से विचार करें तो मालूम होगा कि, खरतरगच्छ मे दादाजी के हजारों भक्त हैं। साथ ही दादाजी के माननेवालों की तादाद अन्य गच्छों मे भी काफी है। भावुक श्रावक दादाजी के मंदिर, पादुकाओ के स्थापनादि कार्यों मे दिल खोलकर खर्च करते हैं। मुत्तहत्त होकर उनकी सेवा-भावना का प्रसार होता है। पर सबसे अधिक दुःख तो इस बात का है कि, हम जिनकी अर्चना, सेवा और भक्ति-प्रदर्शन के लिये इतनी धनराशि व्यय करते हैं-उनकी कृतियों का, उनके अप्रतिम चरित्रो को जानने की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। यह जाति की मरणोन्मुखता का ही द्योतक है। जागृत जातियाँ कभी भी ऐसा नहीं कर सकतीं। इससे कोई हमारा मतलब यह नहीं समझे कि हम पूजा-अर्चना

की अवहेलना करने की सिफारिश करते हैं पर हमारा नम्र निवेदन तो इतना ही है कि, लोग पूजा करें—दिन दूनी करें पर साथ ही इस बात का ज्ञान भी प्राप्त करने का प्रयास करें कि हमारे आराध्य देवों ने, हमारे पूज्यवर आचार्यों ने संसार को जो अतुलनीय ज्ञान दिया है वह क्या है—उन्होंने संसार के लिये क्या क्या रत्न छोड़े हैं। आशा है समाज हमारे इस निवेदन पर गंभीरता से विचार करेगा।

आज 'बंगला साहित्य' इतनी समृद्धि पर इसीलिये है कि बंगाली जाति ने उसको गौरव के साथ देखा है। अपने लेखकों, साहित्य-स्रष्टाओं को उसने उच्च आसन पर बैठाया है। उसने अपने साहित्य की भित्ति पर अपनी जाति का निर्माण किया है। पर हमारा समाज साहित्य से एक दम उदासीन है। वह पूजा करता है, पर यह नहीं जानता कि वह क्यों और किस प्रकार के महान् पुरुष के महान् आदर्श की अर्चना करता है। यह स्थिति दुःखद है और उज्ज्वल भविष्य की सूचना नहीं देती। हमने इसके पूर्व जैन साहित्य के १० ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। जिनमे दो तो दादाजी आचार्यों के जीवनचरित्र ही है और एक ऐतिहासिक जैन काव्यों का वृहत् संग्रह है। यदि जैन समाज इसको समुचित आदर के साथ स्वीकार कर लेता तो दिन पर दिन इस प्रकार के ग्रन्थों को शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने का प्रयास किया जाता। भारतीय विद्वानों ने तो इन ग्रन्थों का बहुत ही आदर किया है। भारतीय पत्रों ने इनकी

बहुत ही प्रशंसा की है। पूज्य मुनिराज श्रीलब्धिमुनिजी ने युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि और दादा श्रीजिनकुशलसूरि इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर संस्कृत काव्यों का भी निर्माण किया है। पर हमें समाज की ओर से जैसा चाहिए उत्साह नहीं मिला। फिर भी 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की सुप्रसिद्ध उक्ति के अनुसार हम अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर दृढ़ हैं और यह ग्यारहवां पुष्प समाज की सेवा में इस आशा के साथ रख रहे हैं कि कभी न कभी समाज में जागृति होगी ही।

श्रीमणिधारीजी का चरित्र बहुत ही संक्षिप्त मिलता है एवं उस समय का अन्य इतिहास भी प्रायः अंधकारमय है। अत. बहुत कुछ अन्वेषण करने पर भी हम इस चरित्र को मनोनुकूल नहीं बना सके। पुस्तक छोटी हो जाने के कारण उनके रचित 'व्यवस्था-कुलक' को भी सानुवाद इसमें प्रकाशित किया जा रहा है। साथ ही इसका महत्व इसलिये भी अधिक है कि आचार्यश्री की यही एकमात्र कृति हमें उपलब्ध है। इसकी एक पत्र की १ प्रति यति श्रीमुकुन्दचन्दजी के संग्रह में मिली थी व दूसरी जैसलमेर भंडार की प्रति से यति लक्ष्मीचन्दजी नकल कर के लाये थे। उससे हमने मिलान तो कर लिया था पर जैसलमेर भंडार की मूल ताड़पत्रीय प्राचीन प्रति के न मिल सकने के कारण पाठ-शुद्धि ठीक नहीं हो सकी है। पूज्य मुनिराज श्रीकवीन्द्रसागरजी ने जनसाधारण के लिये इसको अधिक उपयोगी बनाने के उद्देश्य से इसकी संस्कृत

छाया और भाषानुवाद किया है। इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

पूज्य श्री मणिधारीजी का चित्र या मूर्ति आदि न मिल सकने के कारण उनके समाधि-स्थान के चित्र को ही देकर संतोष करना पडता है। इसकी प्राप्ति हमें पूज्य श्रीजिनहरिसागरसूरीजी की कृपा से श्री केशरीचंदजी वोहरा दिल्लीनिवासी द्वारा हुई है जिसके लिये हम दोनों ही महानुभावों के आभारी है।

इस चरित्र का मुख्य आधार जिनपालोपाध्याय रचित 'गुर्वावली' है। अतः उपाध्यायजी का उपकार तो हम शब्दों द्वारा व्यक्त ही नहीं कर सकते। यह सूचित करते हमें हर्ष होता है कि इस ग्रन्थरत्न का संपादन पुरातत्त्वाचार्य श्रीजिनविजयजी जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् ने किया है और अव वह 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' से प्रकाशित होने जारहा है।

हमने जिस समाधिस्थान के चित्र का उल्लेख ऊपर किया है उसके सम्बन्ध में हम यहाँ यह सूचित कर देना उचित समझते हैं कि इस स्थान पर श्री मणिधारीजी के देहावसान के वाद स्तूप निर्माण हुआ था और वह स्तूप श्रीजिनकुशलसूरिजी के गुरु कलिकालकेवली श्रीजिनचन्द्रसूरिजी के समय में विद्यमान था। इसका प्रमाण हमें गुर्वावली से ही प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने संवत् १३७५ में उसकी दो वार यात्रा की थी। इस समय वहाँ पर चरणपादुका या मूर्त्ति नहीं है।

इस पुस्तिका की प्रस्तावना बीकानेर के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० श्रीदशरथजी शर्मा M. A. महोदय ने लिखने की कृपा की है। अतः हम उनके कृतज्ञ हैं। साथ ही पूज्य इतिहासतत्त्व महोदधि जैनाचार्य श्री विजयेन्द्रसूरिजी ने इसके प्रूफ-संशोधन आदि कार्यों में हमारा हाथ बँटाया है इसके लिये हम उनके भी आभारी हैं और आशा करते हैं कि विद्वानों का सहयोग हमें बराबर मिलता रहेगा।

विनीत,

अगरचन्द नाहटा

भँवरलाल नाहटा

ॐ

प्रवेशिका

अन्तिम जैन तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी एवं महात्मा बुद्ध प्रायः समकालीन थे। हृदयहीनता एवं दम्भ का विरोध कर इन महान् आत्माओं ने संसार को कारुण्य का उपदेश दिया था। परन्तु बौद्ध धर्म अब भारतवर्ष से विलीन हो चुका है। उसके विहार एवं मठ अब 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि' 'संघं शरणं गच्छामि' के वाक्यों से प्रतिध्वनित नहीं होते। जिस धर्म का चक्रवर्ती महाराज अशोक एवं हर्षवर्धन ने प्रसार किया था उसके भारतीय अनुयायी अब अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। इस महान् परिवर्तन का कारण क्या धार्मिक अत्याचार था? क्या पुष्यमित्र और शशांक की तलवारों ने इस धर्म का नाश कर दिया? भारतीय इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ चिल्ला कर कहेगा कि नहीं। बौद्ध धर्म पर अन्त तक भारतीय राजाओं की कृपा रही, अन्त तक उसके लिये विहारों और संघारामों की सृष्टि होती रही। उसे किसी ने नष्ट नहीं किया, वह स्वयं ही नष्ट हो गया। वह विलासिता, शिथिलता, एवं उत्साहहीनता के बोझ से दब गया और फिर न उठ सका। सहजयान, वज्रयान, कुलयान आदि की सृष्टि कर, वह केवल

स्वयं अनाचार-ग्रस्त नहीं हुआ, अपितु दूसरों को भी अनाचार-ग्रस्त बना कर भारत के पतन का मुख्य कारण बना।

ख्रिस्तीय आठवीं शताब्दी के आसपास जैनधर्म भी इसी पतन की तरफ किसी न किसी अंश मे अग्रसर हो चुका था। आचार्य-प्रवर श्रीहरिभद्र के कथनानुसार कई जैन साधु मन्दिरों में रहते, उनके धन का उपभोग करते, मिष्टान्न, घृत, ताम्बूल आदि से अपने शरीर और जिह्वा को तृप्त करते, और नृत्य, गीतादि का आनन्द लेते। यदि जैन धर्म के विषय में इनसे प्रश्न किया जाता तो उहकालीन कई धर्माध्यक्षों के अनुसार यही कह कर टाल देते कि यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, श्रावकों की मति के लिये अगम्य है। केशलुञ्चन का इन्होंने परित्याग कर दिया था, स्त्रियों की संगति को ये सर्वथा त्याज्य नहीं समझते थे, धनी गृहस्थों का विशेष मान करते, और अन्य भी कई जिन शिक्षा के विरुद्ध आचरण किया करते थे। यदि प्रभावक चरित के कथन का विश्वास किया जाय तो उस समय के कई बड़े बड़े आचार्य भी इस आचारशैथिल्य से सर्वथा अस्पृष्ट नहीं थे। कन्नौज के सम्राट् नागभट्ट द्वितीय के गुरु सुविख्यात श्रीबप्पभट्टि हाथी पर सवार होते थे, उनके शिर पर चमर डुलाए जाते थे, और उनका राजाओं के समान सम्मान किया जाता था।

श्रीहरिभद्राचार्य ने इस स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली। स्वयं श्रीहरिभद्रा-

चार्य के प्राचीन स्थान चित्तौड में चैत्यवासियों का प्राबल्य था, और गुजरात तो एक प्रकार से उनका घर ही था। वे पहले चावड़ों के, और तदनन्तर चौलुक्यों के अनेक वर्ष तक गुरु रहे। उनका विरोध करना कोई साधारण कार्य न था। परन्तु पतन एवं बौद्धधर्म के समान मरण की तरफ अग्रसर होते हुए जिनोपदेश का उद्धार करना आवश्यक था। अतएव चन्द्रकुल शिरोमणि श्रीजिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों के प्रबलतम दुर्ग पत्तन मे ही उनका विरोध किया और दुर्लभराज चौलुक्य की सभा में उन्हे परास्त कर, अपने गच्छ के लिये 'खरतर नामक' प्रसिद्ध विरुद किया। नवाङ्ग वृत्तिकार सुविख्यात दार्शनिक श्रीअभयदेवसूरि ने अपनी पुस्तक-रचना एवं उपदेश द्वारा इस कार्य को अग्रसर किया। उनके शिष्य श्रीजिनवल्लभ अपने समय के अन्यतम विद्वान् थे। उन्होंने केवल अनेक ग्रन्थों की ही रचना नहीं की, अपितु समस्त राजस्थान, बागड और मालवा में विहार कर सत्य धर्म का उपदेश दिया और विधि-चैत्यों की स्थापना की। 'चर्चरी' के कथनानुसार श्री हरिभद्राचार्य के ग्रन्थों का मनन कर श्री जिनवल्लभसूरि ने विधिमार्ग का प्रकाशन किया (श्लोक १४)। जिन जिन बातों पर श्री हरिभद्राचार्य ने आक्षेप किया था वे सब विधिचैत्यों मे वर्जित थी। यहाँ रात्रि के समय नृत्य और प्रतिष्ठा न होती, रंडियाँ न नाचतीं, और रात्रि समय स्त्रियाँ चैत्यों मे प्रवेश न करतीं। जाति और ज्ञाति का यहाँ कदाग्रह न था, और लगुड रास

आदि वर्जित थे। श्रावक लोग जूते पहने यहां न आते थे, और न यहां ताम्बूल-चर्वण होता था। नृत्य, हास्य, क्रीडा, तथा जिनोपदेश विरुद्ध अन्य कार्य यहां सर्वथा निषिद्ध थे। चित्तौड़, नरवर, नागौर, मरोट आदि विधिचैत्यों में ये शिक्षाएं प्रशस्ति रूप में लगा दी गई थीं।

श्रीजिनदत्तसूरि इनके सुयोग शिष्य थे। इनका चरित्र इस ग्रंथमाला में शीघ्र ही प्रकाशित होगा। अतः यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये अत्यन्त प्रभावशाली एवं निर्भीक उपदेष्टा थे। यदि सब धर्माचार्य इनके समान—

"रूसउ वा परो मा विस वा परियत्तउ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्ख गुणकारिया॥"

कह सकें तो क्या संसार में कभी धर्म की अवनति हो सकती है?

इस लघुकाय पुस्तिका में अगरचन्दजी एवं भँवरलालजी नाहटा ने इनके सुशिष्य एवं पट्टधर श्रीजिनचन्द्रसूरि का चरित्र दिया है। पुस्तक बड़ी खोज के साथ लिखी गई है। विद्वान् लेखकों की इस बात से मैं सर्वथा सहमत हूँ कि सूरिजी द्वारा प्रतिबोधित मदनपाल कोई सामान्य श्रावक मात्र नहीं बल्कि दिल्ली का राजा था।

चौहानों के अधीन होने पर भी किसी अन्यवंशीय राजा का दिल्ली में राज्य करते रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विग्रहराज चतुर्थ ने आशिका अर्थात् हांसी को दिल्ली से पहिले जीता था, किन्तु संवत् १२२८ में वहां भीमसिंह नामक चौहान-

तर वंश का राजा राज्य करता था। पुराने विजेता अधिकतर विजितवंश को सर्वथा अधिकार-च्युत न करते थे। यदि राजा ने अधीनता स्वीकार कर ली और कर देना स्वीकार किया तो यह पर्याप्त समझा जाता था। विग्रहराज के शिलालेख मे केवल इतना ही लिखा है कि उसने आशिका के ग्रहण से श्रान्त अपने यश को ढिल्ली अर्थात् दिल्ली मे विश्राम दिया। इसका यह मतलब हो सकता है कि दिल्ली के राजा ने विग्रहराज की अधीनता स्वीकार की। यह शिलालेख हमे यह मानने के लिये विवश नहीं करता कि चौहान-सम्राट् ने दिल्ली के राजवंश और राज्य को ही समाप्त कर दिया। श्री जिनपाल उपाध्याय का कथन सर्वथा स्पष्ट है, और उसके आधार पर हम निस्सङ्कोच कह सकते है कि सम्वत् १२२३ में योगिनीपुर अर्थात् दिल्ली में राजा मदनपाल का राज्य था। वे सर्वथा स्वतन्त्र थे या पराधीन— यह दूसरा विषय है और इसका निर्णय अन्यत्र उपलभ्य ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर किया जा सकता है।

इस सुन्दर पुस्तिका को लिखने के लिये अगरचन्दजी एवं भँवरलालजी दोनों ही बधाई एवं धन्यवाद के पात्र है। भगवान् से प्रार्थना है कि वे इसी तरह चिरकाल तक नवीन-नवीन एवं शोधपूर्ण पुस्तकों द्वारा हिन्दी साहित्य की वृद्धि करते रहे।

बीकानेर
चैत्र कृ० ३, १९९६

दशरथ शर्मा

॥ ॐ ॥

मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि

जैन समाज में सुप्रसिद्ध दादा संज्ञक खरतरगच्छ के चार [1] आचार्यों में श्रीजिनदत्तसूरिजी के अनन्तर मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरिजी का पुनीत नाम आता है। ये बड़े प्रतिभाशाली विद्वान एवं प्रभावक आचार्य थे। केवल २६ वर्ष की अल्पायु पाकर इन्होंने जो कार्य्य किये वे सचमुच आश्चर्यजनक और गौरवपूर्ण हैं। गुरुवर्य्य श्रीजिनदत्तसूरिजी ने इनकी प्रतिभा की सच्ची परख की थी, उनके लोकोत्तर प्रभाव की गहरी छाप श्रीजिनचन्द्रसूरिजी के जीवन मे अङ्कित पाई जाती है। मणिधारीजी का व्यक्तित्त्व महान एवं असाधारण था। इसी का संक्षिप्त परिचय इस लघु पुस्तिका मे दिया जा रहा है।

---

१ श्रीजिनदत्तसूरि, चरित्रनायक श्रीजिनचन्द्रसूरि, श्रीजिनकुशलसूरि और युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि—इनमे से पिछले दो आचार्यों का चरित्र हम पूर्व प्रकाशित कर चुके हैं। श्रीजिनदत्तसूरिजी का चरित्र शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

जन्म

जेसलमेर के निकटवर्ती विक्रमपुर [1] मे साह रासल नामक पुण्यवान श्रेष्टि निवास करते थे। उनके देल्हणदेवी नामक सुशीला धर्मपत्नी थी। उसकी रत्नगर्भा कुक्षि से सं० ११९७ भादवा शुक्ला ८ के दिन ज्येष्टा नक्षत्र मे हमारे चरित्रनायक श्रीजिनचन्द्रसूरिजी का जन्म हुआ था। ये आकृति के बड़े ही सुन्दर, सुडौल और लावण्यवान थे।

---

१ यह स्थान (पोहकरण) फलौदी मे ४० मील पर अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इस समय यहा जैनो की बस्ती एव जैन मन्दिर विद्यमान नहीं है, फिर भी कई भग्नावशेष इतस्तत: पाये जाते हैं। यहा के मन्दिर की मूर्तिया जेसलमेर के मन्दिर में विराजमान की गई हैं।

कई लोग बीकानेर, जिसका नाम भी विक्रमपुर पाया जाता है, नाम साम्य की भ्रान्ति से आक्षेप करते हैं कि उस समय बीकानेर बसा भी नहीं था, लेकिन वास्तव में यह बात अज्ञानमूलक है। स० १२९५ में सुमति-गणि कृत गणधरसार्धशतक बृहद्वृत्ति से स्पष्ट है कि श्रीजिनदत्तसूरिजी ने यहा के वीरजिनेश्वर की प्रतिष्ठा की थी। भूत-प्रेतो को तिरस्कृत किया था। खरतरगच्छ पट्टावलीसंग्रह मे प्रकाशित स० १५८२ की सूरि-परम्परा प्रशस्ति में लिखा है कि महामारि के उपद्रव को शान्त कर माहेश्वरानुयायि लोगों को जैनधर्म का प्रतिबोध देकर जैनी बनाया था।

विक्रमपुर में श्रीजिनदत्तसूरिजी का बड़ा भारी प्रभाव था। सूरिजी ने वागड़ देश में "चर्चरी[1]" नामक ग्रन्थ रच कर विक्रमपुर के मेहर, वासल आदि श्रावकों के पठनार्थ वह चर्चरी टिप्पनक विक्रमपुर भेजा। उससे प्रभावित हो कर सण्हिया के पुत्र देवधर ने चैत्यवास आम्नाय का परित्याग कर सूरिजी को अजमेर से विक्रमपुर ला कर चातुर्मास कराया। सूरिजी के अमृतमय उपदेश से वहा पर वहुत से व्यक्ति प्रतिवोध पाये। बहुतों ने देशविरति और सर्वविरति धर्म स्वीकार किया। वहा के जिनालय में सूरिजी के कर-कमलों से महावीर भगवान की प्रतिमा स्थापित की गई[2]।

एक वार रासलनन्दन बाल्यवस्था में आपके निकट माता के साथ पधारे। वालक के शुभ लक्षणों को देख कर सूरिजी ने उसी समय उनके होनहार एवं प्रतिभासम्पन्न होने का निश्चय कर लिया और अपने ज्ञान-वल से इस वालक को अपने पट्ट के सर्वथा योग्य ज्ञात किया।

दीक्षा

विक्रमपुर में महती धर्म-प्रभावना कर युगप्रधान गुरुदेव

---

१ यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा की ४७ गाथाओं मे है। उपाध्याय श्रीजिनपालजी कृत वृत्ति सहित 'गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज' से प्रकाशित 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' मे मुद्रित हो चुका है।

२ विशेष जानने के लिए गणधरसार्धशतक वृहद्वृत्ति देखनी चाहिए।

अजमेर पधारे और वहीं सं० १२०३ के मिती फाल्गुन शुक्ला ६ के दिन श्रीपार्श्वनाथ विधिचैत्य मे हमारे चरित्रनायक की दीक्षा हुई। आप असाधारण बुद्धिशाली और स्मरण शक्ति सम्पन्न थे, दो वर्ष के विद्याध्ययन मे ही आपकी प्रतिभा चमक उठी। सभी लोग इस लघुवयस्क सरस्वतीपुत्र मुनि की मेधा एव सूरिजी की परख की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे।

आचार्य पद

सं० १२०५ [१] के मिती वैशाख शुक्ला ६ को विक्रमपुर के श्री महावीर जिनालय मे श्री जिनदत्तसूरिजी ने स्वहस्त कमल

---

१ उ० श्री क्षमाकल्याणजी की पट्टावली में स० १२११ लिखा है लेकिन वह ठीक नहीं ज्ञात होता। स० १३१२ दीवाली के दिन प्रह्लादनपुर मे विरचित अभयतिलकोपाध्याय के द्वयाश्रयकाव्य वृत्ति की प्रशस्ति में लिखा है—

तत्पट्टाचलचूलिकाचलमल चक्रेऽष्टवर्षोऽपि स

श्रीमान्श्री जिनचन्द्रसूरि सुगुरु कण्ठीर वा भेषिम

य लोकोत्तररूपसपदमपेक्ष्य स्व पुलिन्दोपम

मन्वानोऽनुरूयौ स्मरस्तदुचिताश्चाप शरान्यं वच ॥६॥

इसी मिती मे स्तम्भतीर्थ मे उ० श्रीचन्द्रतिलक रचित श्री अभयकुमार चरित्र में भी ९ वर्ष की अवस्था मे सूरिपद मिलने का उल्लेख मिलता है। श्रीजिनपालोपाध्याय ने गुर्वावली में भी यही बात लिखी है। पिछली अन्य पट्टावलियों मे भी सूरिपद का समय स० १२०५ ही लिखा है।

से इन प्रतिभाशाली मुनि को आचार्य पद प्रदान कर श्रीजिन-चन्द्रसूरिजी नाम से प्रसिद्ध किया। आचार्य पद महोत्सव इनके पिता साह रासल ने वडे समारोह पूर्वक किया। श्रीजिन-दत्तसूरिजी की इन पर महती कृपा थी। उन्होंने स्वयं [1] इन्हें जिनागम, मंत्र, तन्त्र, ज्योतिप आदि पढा कर सभी विपयों में पारंगत विद्वान वना दिया। ये भी सर्वदा गुरु सेवा में दत्त-चित्त रहते थे।

श्रीजिनदत्तसूरिजी का भावी संकेत

विनयी शिष्य की सेवा से युगप्रधान गुरुजी वड़े प्रसन्न थे। उन्होंने इन्हे गच्छ सञ्चालन एवं आत्मोन्नति की अनेक शिक्षाएँ दी थीं, उनमें एक शिक्षा वडी ही महत्त्व की थी कि जिसे हम गुरुसेवा का अमूल्य लाभ ही कह सकते है वह शिक्षा यह थी कि "योगिनीपुर-दिल्ली में कभी मत जाना।" क्योंकि दिल्ली में उस समय दुष्ट देव और योगिनियों का वहुत उपद्रव था एवं श्री जिनचन्द्रसूरिजी का मृत्युयोग भी उसी निमित्त से ज्ञात कर

---

१ वाल्ये श्रीजिनदत्तसूरि विभुभिर्ये दीक्षिताः शिक्षिता।
दत्त्वाचार्यपद स्वय निजपदे तै रेव सस्थापिता' ॥ ६ ॥
श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिगुर्वोऽपूर्वेन्दुविम्वोपमा.।
न ग्रस्तास्तमसा कलकविकलाः क्षोणौ वभूवुस्तत' ॥ ७ ॥
[शालिभद्र चरित्र, स० १२८५ मे पूर्णभद्र कृत]

इन्हें दिल्ली जाने का सर्वथा निषेध किया था। सूरिजी के भावी संकेत का तात्पर्य यह था कि ये इस सम्बन्ध में सतर्क रहें।

गच्छनायक पद

संवत् १२११ मिती आषाढ़ शुक्ला ११ को अजमेर नगर में श्रीजिनदत्तसूरिजी महाराज स्वर्ग सिधारे। तभी से गच्छ सञ्चालन का सारा भार इनके ऊपर आ गया। ये भी बड़ी योग्यता पूर्वक इस महान् पद को निभाने लगे।

विहार

संवत् १२१४ में श्रीजिनचन्द्रसूरिजी त्रिभुवनगिरि[1] पधारे। वहां परमगुरु श्रीजिनदत्तसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित श्री

---

१ ग्यारहवीं शताब्दी के जैनाचार्य श्रीप्रद्युम्नसूरिजी ने त्रिभुवनगिरि के कर्दम राजा को जैन बनाया था। जो दीक्षित होकर श्रीधनेश्वरसूरिजी के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

[जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० १९२-७]

सं० १२९५ में रचित 'गणधरसार्धशतक बृहद् वृत्ति' और 'गुर्वावली' में श्रीजिनदत्तसूरिजी के त्रिभुवनगिरि पधारने और वहां महाराजा कुमारपाल को प्रतिबोध देने का उल्लेख पाया जाता है।

हमारे संग्रह के श्रीवादिदेवसूरिचरित्र में त्रिभुवनगिरि के दुर्ग में रक्त-वस्त्र वादी को पराजय करने का वर्णन मिलता है।

शान्ति जिनालय के शिखर पर स्वर्ण दण्ड, कलश और ध्वजा को महा महोत्सव पूर्वक चढ़ाया गया। साध्वी हेमदेवी गणिनी को इन्होंने प्रवर्त्तिनी पद से विभूपित किया। वहां से विहार कर क्रमशः मथुरा पधारे। वहा की यात्रा कर सं० १२१७ के फाल्गुन शुक्ला [1] १० के दिन पूर्णदेव [2] गणि, जिनरथ, वीरभद्र, वीरनय, जगहित, जयशील जिनभद्र और नरपति (श्री जिनपतिसूरि [3]) को भींमपल्ली [4] के श्री वीरजिनालय में दीक्षा दी

गुर्वावली में श्री जिनपतिसूरिजी के नेतृत्व में स० १२४४ में एक सघ निकला उसमे त्रिभुवनगिरि से यशोभद्राचार्य के समीप अनेकान्त जयपताका, न्यायावतार आदि ग्रन्थों के पढने वाले शीलसागर और सोमदेव स्थानीय सघ के साथ आकर पूज्यश्री के आज्ञानुसार सघ मे सम्मिलित होने का उल्लेख है।

१ हमारे सम्पादित ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह के अन्तर्गत श्री जिनपतिसूरि के गीतद्वय में दीक्षा स० १२१८ फाल्गुण कृष्ण १० लिखा है पर गुर्वावली में दो स्थानों में उपर्युक्त संवत् तिथि मिलने के कारण व प्रस्तुत जीवनी का मुख्य आधार गुर्वावली होने के कारण हमने भी उसी को स्थान दिया है।

२ स० १२४५ मे लवणखेटक स्थान में श्रीजिनपतिसूरिजी ने इनको वाचनाचार्य पद से विभूषित किया था।

३ आपका सक्षिप्त परिचय हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' के सार भाग पृष्ठ ९ मे देखना चाहिए। गुर्वावली मे आपका जीवन अति विस्तार से मिलता है, जिसे स्वतन्त्र रूप या गुर्वावली के अनुवाद के रूप मे प्रकाशित किया जायगा।

४ वर्तमान भीलड़ी पालनपुर एजेन्सी मे डीसा ग्राम से ८ कोश

गई। साह क्षेमन्धर[1] को प्रतिवोध दिया। वहां से विहार कर सूरिजी मरुकोट (मरोट) पधारे। स्थानीय श्री चन्द्रप्रभ-स्वामी के विधिचैत्य पर साधु गोल्हक कारित स्वर्णदण्ड, कलश व ध्वजारोपण किया गया। इस महोत्सव मे साह क्षेमन्धर ने ५००) द्रम्म (मुद्रा) देकर माला ग्रहण की।

मरुकोट से विहार कर सूरि-महाराज सं० १२१८ में उच्च (सिन्धु प्रान्तीय) पधारे वहा ऋषभदत्त, विन ········ ( ) विनयशील, गुणवर्द्धन, मानचन्द्र[2] नामक ५ साधु और जगश्री, सरस्वती और गुणश्री[3] नामक साध्वी त्रय को दीक्षा दी। इसी प्रकार क्रमश सूरिजी के समीप और भी वहुत से व्यक्ति दीक्षित होते गये।

पश्चिम में है। विशेष जानने के लिए मुनि श्री कल्याणविजयजी का "जैन तीर्थ भीमपल्ली अने रामसैन्य" शीर्षक लेख पढ़ना चाहिए जो कि जैन युग सं० १९८५-८६ के भाद्रपद-कार्तिक के अक मे छपा है।

१ ये पद्मप्रभाचार्य के पिता थे, जिनसे सं० १२४४ में आशापल्ली मे श्रीजिनपतिसूरिजी ने शास्त्रार्थ किया था। इसका कुछ उल्लेख श्री जिनपतिसूरिजी के वादस्थल और विस्तार पूर्वक वर्णन गुर्वावली मे मिलता है।

२ इन्हें भी लवणखेटक मे उपर्युक्त पूर्णदेव गणि के साथ स० १२४५ में श्रीजिनपतिसूरिजी ने वाचनाचार्यपद दिया था।

३ स० १२३४ मे श्रीजिनपतिसूरिजी ने इन्हें महत्तरा पद दिया था।

संवत् १२२१ में सूरिजी सागरपाड़ा पधारे। वहा सा० गयधर कारित पार्श्वनाथ विधि चैत्य में देवकुलिका की प्रतिष्ठा की। वहा से अजमेर पधार कर स्वर्गीय गुरुदेव श्रीजिनदत्त-सूरिजी के स्तूप [1] की प्रतिष्ठा की। वहा से क्रमशः विहार करते हुए सूरिजी वब्बेरक पधारे। वहां वा० गुणभद्र [2] गणि, अभयचन्द्र, यशाचन्द्र, यशोभद्र, देवभद्र और देवभद्र की भार्य्या को दीक्षा दी गई। आशिका (हांसी) नगरी मे नागदत्त को वाचना-चार्य पद दिया। महावन स्थान के श्री अजितनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की। इन्द्रपुर के श्री शान्तिनाथ विधिचैत्य के स्वर्ण दण्ड, कलश और ध्वज की प्रतिष्ठा की। तगला ग्राम में वाचक गुणभद्र गणि के पिता महलाल श्रावक के बनवाये हुए श्री अजितनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की।

सं० १२२२ में बादली नगर के श्री पार्श्वनाथ मन्दिर मे उपर्युक्त महलाल श्रावक कारित स्वर्ण दण्ड, कलश की प्रतिष्ठा की। अम्बिका-मन्दिर के शिखर पर स्वर्ण-कलश की प्रतिष्ठा

---

१ संवत् १२३५ में श्रीजिनपतिसूरिजी ने इस स्तूप की बड़े विस्तार से पुनः प्रतिष्ठा की थी।

२ सं० १२८५ में लवणखेटक में श्रीजिनपतिसूरिजी ने इन्हें वाचना-चार्य पद से सुशोभित किया था। इनके पिताका नाम महलाल श्रावक था जिनकी करवाई हुई तगला और वोरसिदा की प्रतिष्ठा का उल्लेख ऊपर आ ही चुका है।

कर सूरि-महाराज ने रुद्रपल्ली[1] की ओर विहार किया। रुद्रपल्ली से नरपालपुर पधारे, वहां ज्योतिष शास्त्र के किञ्चित अभ्यास से गर्विष्ठ एक ज्योतिषी से साक्षात्कार हुआ। ज्योतिष सम्बन्धी चर्चा करते हुए सूरिजी ने उसे कहा कि चर, स्थिर, द्विस्वभाव इन ३ स्वभाव वाले लग्नों में किसी भी लग्न का प्रभाव दिखाओ। ज्योतिषी के निरुत्तर होने पर सूरिजी ने वृष लग्न के १९ से ३० अंशों तक के समय मार्गशीर्ष मुहूर्त में श्री पार्श्वनाथ मन्दिर के समक्ष एक शिला १७६ वर्ष तक स्थिर रहने की प्रतिज्ञा से अमावस्या के दिन स्थापित कर उस ज्योतिषी को जीत लिया। ज्योतिषी लज्जित होकर चला गया। श्रीजिनपालोपाध्याय गुर्वावली में लिखते हैं कि वह शिला अब (रचनाकाल सं० १३०५) तक वहां विद्यमान है।

पद्मचन्द्राचार्य से शास्त्रार्थ

वहां से विहार कर श्रीजिनचन्द्रसूरिजी पुनः रुद्रपल्ली पधारे। वहां किसी दिन मुनि मण्डली सहित लघुवयस्क सूरि महाराज

---

१ श्रीजिनदत्तसूरिजी ने यहां पधार कर बहुत से व्यक्तियों को सम्यक्त्वी, देशविरति, सर्वविरति बनाया था। एवं श्री पार्श्वनाथ स्वामी और श्रीऋषभदेव प्रभु के चैत्यद्वय की प्रतिष्ठा की थी। श्रीजिनवल्लभसूरिजी के शिष्य श्रीजिनशेखरोपाध्याय भी यहीं के थे। इस स्थान के नाम पर खरतरगच्छ की रुद्रपल्लीय शाखा इन्हीं से प्रादुर्भूत हुई।

को अपने पास से होकर वहिर्भूमि जाते देख मात्सर्यवश पद्म-चन्द्राचार्य नामक चैत्यवासी ने उनसे पूछा कहिये ! आचार्यजी आप आनन्द में हैं ?"

सूरि—हाँ । देवगुरु के प्रसाद से आनन्द में हूं ।

पद्म०—आप आज कल किन किन शास्त्रों का अभ्यास करते है ?

यह सुन कर साथ मे रहे हुए मुनि ने कहा –

पूज्यश्री आज कल "न्याय कन्दली" [१] का चिन्तन करते है ।

पद्म०—क्यों, आचार्यजी आपने तमोवाद का चिन्तन कर लिया है ?

सूरिजी—हाँ, तमोवाद प्रकरण देखा है ।

पद्म०—आपने उसका अच्छी तरह से मनन किया है ।

सूरिजी—हाँ, कर लिया है ।

पद्म०—अन्धकार रूपी है या अरूपी, एवं उसका रूप कैसा है ?

सूरिजी—अन्धकार का स्वरूप कैसा ही हो, पर उस पर वाद करने का यह समय नहीं है । वाद विवाद तो राजसभा

---

१ यह ग्रन्थ श्रीधर का बनाया हुआ है । इस पर हर्षपुरीयगच्छ के मलधारी श्रीदेवप्रभसूरि (१३ वीं शताब्दी) के शिष्य नरचद्रसूरि ने टिप्पण लिखा है । एवं उन्हीं की परम्परा मे राजशेखरसूरि (१५ वीं शताब्दी) ने पञ्जिका बनाई है ।

में प्रधान सभ्यों के समक्ष होना ही उचित है। नीति और प्रमाणों द्वारा अपने अपने पक्ष का समर्थन करके वस्तु स्वरूप का तभी विचार हो सकता है। यह निश्चित है कि स्वपक्ष स्थापना करने पर भी वस्तु अपना स्वरूप नहीं छोड़ती।

पद्म–पक्ष स्थापनामात्र से वस्तु अपना स्वरूप छोड़े या न छोड़े पर परमेश्वर तीर्थङ्करों ने 'तम' को द्रव्य कहा है, यह सर्व सम्मत है।

सूरिजी—अन्धकार को द्रव्य मानना कौन अस्वीकार करता है?

पूज्यश्री ने वार्त्तालाप के समय ज्यों ज्यों शिष्टता और विनय प्रदर्शन किया त्यों त्यों पद्मचन्द्राचार्य अहङ्कार में उन्मत्त हो गए। कोप के आवेग से उनके नेत्र लाल हो गए, शरीर काँपने लगा और कहने लगे—"जब मैं प्रमाण रीति से 'अन्धकार द्रव्य है' इसे स्थापित करूँगा तब तुम क्या मेरे सामने ठहर सकोगे।"

सूरिजी—किस की योग्यता है और किसकी नहीं, यह तो मौका पड़ने पर राजसभा में स्वतः विदित हो जायगा। पशु-प्रायों की जंगल ही रणभूमि है, आप हमें लघुवयस्क समझ कर अपनी शक्ति को अधिक न बघारिये! मालूम है? छोटे शरीर वाले सिंह की दहाड़ सुन कर पर्वताकृति गजराज भी डर जाते हैं।

इन दोनों आचार्यों का विवाद सुन कर कौतुक देखने के लिए वहां कितने ही नागरिक एकत्र हो गए। दोनों पक्ष के

श्रावक अपने अपने आचार्य का पक्ष लेकर एक दूसरे को परस्पर अहंकार दर्शाने लगे। बात बढ़ते बढ़ते राजसभा में शास्त्रार्थ निश्चित हुआ। निश्चित समय पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने बडी विद्वता के साथ विपक्षी के युक्ति और प्रमाणों को रद्द कर स्वपक्ष का स्थापन किया।

पद्मचन्द्राचार्य शास्त्रार्थ में परास्त हो गये। राज्याधिकारियों ने समस्त जनता के समक्ष श्रीजिनचंद्रसूरिजी को जयपत्र समर्पण किया। चारों ओर से सूरिजी की जयध्वनि प्रस्फुटित हुई। सूरिजी की विद्वत्ता एवं सुविहित मार्ग की बडी प्रशंसा हुई। श्रावक लोगों ने इस विजय के उपलक्ष में बड़ा महोत्सव किया। सूरिजी के भक्त श्रावकों की 'जयतिहट्ट' नाम से प्रसिद्धि हुई और पद्मचंद्राचार्य के श्रावक 'तर्कहट्ट' कहलाने लगे। इस प्रकार यशस्वी आचार्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने कई दिन तक वहां ठहर कर सिद्धान्तोक्तविधि से अच्छे सथवाड़े के साथ वहा से प्रस्थान किया।

म्लेच्छोपद्रव से संघ रक्षा

क्रमशः विहार करते हुए मार्ग में वोरसिदान ग्राम के समीप संघ ने पडाव डाला। उसी समय वहा म्लेच्छों के आने की खबर लगने से सथवाड़े के लोग भयभीत होने लगे। संघ को म्लेच्छों के भय से व्याकुल देख कर सूरिजी ने कहा—'आप लोग आकुल क्यों हो रहे है?'

साथवाले लोगों ने कहा—भगवन्! देखिये, वह म्लेच्छों की सेना आ रही है, इस दिशा में आकाश धूलि से आच्छादित हो रहा है। वह देखिये—सैनिकों का कोलाहल भी सुनाई देता है।

पूज्यश्री ने सावधान होकर सब से कहा—महानुभावो! धैर्य रखो अपने ऊंट, बैल आदि चतुष्पदों को एकत्र कर लो। प्रभु श्रीजिनदत्तसूरिजी सब का भला करेंगे।

तत्पश्चात् पूज्यश्री ने मन्त्रध्यानपूर्वक अपने दण्डे से संघ के चारों और कोट के आकार वाली रेखा खींच दी। सथवाड़े के लोग गोणी में घुस गये। इन लोगों ने घोड़ों पर चढ़े हुए हजारों म्लेच्छों को पड़ाव के पास से जाते हुए देखा परन्तु म्लेच्छों ने संघ को नहीं देखा, वे केवल कोट को देखते हुए दूर चले गये। सब लोग निर्भय होकर चले, और क्रमशः दिल्ली के समीप जा पहुँचे।

सूरिजी के पधारने की सूचना पाकर दिल्ली के ठक्कुर लोहट, सा० पाल्हण, सा० कुलचंद्र, सा० महीचन्द्र आदि संघ के मुख्य श्रावक बड़े समारोह के साथ सूरिजी के वन्दनार्थ सन्मुख चल पड़े।

महाराजा मदनपाल[1] प्रतिबोध

दिल्ली नगर के प्रधान लोगों को सुन्दर वेशभूषा से अलंकृत, सपरिवार सवारियों पर आरूढ़ होकर नगर से बाहर जाते

---

१ पिछले पट्टावलिकारों ने मदनपाल को श्रीमाल श्रावक लिखा है परन्तु गुर्वावली से स्पष्ट है कि उस समय वे दिल्ली के महाराजा थे। यद्यपि भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों में उनका उल्लेख नही पाया जाता पर तँवर राजवंशावली शुद्ध एवं परिपूर्ण उपलब्ध नहीं है तथा उस समय दिल्ली के शासक कौन थे इसके जानने के लिए भी कोइ मुद्रादि साधन उपलब्ध नहीं है अतएव गुर्वावली तिमिराच्छन्न भारतीय इतिहास पर एक [नवीन प्रकाश डालती है। गुर्वावलीकार के कथन में सन्देह का कोई भी] कारण नही हो सकता क्योंकि इसके कर्त्ता उ० जिनपाल की दीक्षा स० १२२५ में हुई थी अत: हमारे चरित्रनायक के साथ में रहने वाले गीतार्थों के मुख से सुनी हुई सत्य घटना को ही सकलित किया गया है। उपाध्यायजी चरित्र-नायक के प्रशिष्य थे एवं उनका समय भी अति सन्निकट अर्थात् जिनचन्द्र-सूरिजी के स्वर्गवास के दो वर्ष पश्चात् ही आपकी दीक्षा हुई थी। इसलिए पट्टावलिकारों का कथन यहीं तक ग्राह्य हो सकता है कि मदनपाल के आग्रह से सूरिजी दिल्ली पधारे थे और वह आपका अत्यन्त भक्त था अतः उसे श्रावक शब्द से सम्बोधित कर दिया है।

क्षमाकल्याणजी की पट्टावली मे उस समय दिल्ली का शासक पातसाह लिखा है पर वह सर्वथा भ्रान्तिमूलक ही है।

हुए देख कर राजप्रासाद मे बैठे हुए महाराजा मदनपाल ने विस्मय पूर्वक अपने प्रधान अधिकारियों से पूछा—"ये नगर के विशिष्ट लोग बाहर क्यों जा रहे हैं ?" उन्होंने कहा—"राजन् ! अत्यन्त सुन्दर आकृतिवाले अनेक शक्ति सम्पन्न इनके गुरु महाराज आये हैं, ये लोग भक्तिवश उनके स्वागतार्थ जाते हैं।

कौतूहलवश महाराजा के मन मे भी सूरिजी के दर्शनो की उत्कण्ठा जागृत हुई और राजकर्मचारियों को आज्ञा दी कि— हमारे पट्ट घोड़े को सजाओ और नगर मे घोषणा कर दो कि सब राजकीयपुरुष तैयार होकर शीघ्र हमारे साथ चलें।

राजाज्ञा पाकर हजारो सुभट लोग अश्वारूढ़ होकर नरपति के पीछे हो गये। महाराजा मदनपाल श्रावक लोगों से पूर्व ही ससैन्य सूरिजी के निकट जा पहुँचे।

साथ वाले लोगों ने राजा साहब को प्रचुर भेंट देकर सत्कृत किया। पूज्यश्री ने भी अमृतमय धर्म देशना दी। राजा साहब ने उपदेश श्रवण कर कहा—महाराज ! आपका शुभागमन किस स्थान से हुआ है ?" पूज्यश्री ने कहा—इस समय हम रुद्रपल्ली से आ रहे हैं। राजा साहब ने कहा—आचार्य भगवन् ! उठिये और अपने चरणविन्यास से मेरी नगरी को पवित्र कीजिये।

पूज्यश्री, श्रीजिनदत्तसूरिजी के दिये हुए उपदेश को स्मरण कर कुछ भी न बोले। तब उन्हें मौन देख कर पुनः राजा साहब ने कहा—"आचार्य महाराज ! आप चुप क्यों हैं ? क्या

मेरे नगर में आपका कोई प्रतिपक्षी है ? या आपके परिवार योग्य अन्नजल की प्राप्ति में असुविधा है। अथवा और कोई कारण है ? जिससे मार्ग में आये हुए मेरे नगर को छोड़ कर आप अन्यत्र जा रहे हैं।

सूरिजी ने कहा—"राजन् ! आपका नगर प्रधान धर्मक्षेत्र है" परन्तु···· ··· ··

राजा— तो फिर उठिये और शीघ्र दिल्ली पधारिये। आप विश्वास रखिये कि मेरी नगरी में आप की ओर कोई अङ्गुली भी नहीं उठा सकेगा। दिल्लीश्वर मदनपाल के विशेप अनुरोधवश श्रीजिनदत्तसूरिजी की दिल्लीगमन निपेधात्मक आज्ञा का उल-घन करते हुए उन्हें मानसिक पीडा अनुभव होती थी, फिर भी भवितव्यता के वश से दिल्ली की ओर प्रस्थान करना पड़ा।

आचार्यश्री के प्रवेशोत्सव के उपलक्ष मे सारा नगर वन्दर-वाल, तोरण और पताकाओं से सजाया गया। २४ प्रकार के वाजित्र वजने लगे। भट्ट लोग विरुदावली गाने लगे। सधवा स्त्रियाँ मङ्गल गीत गाने लगीं। स्थान स्थान पर नृत्य होने लगा। लाखों मनुष्यों को अपार भीड़ के साथ महाराजा मदनपाल सूरिजी की सेवा में साथ चल रहे थे। प्रवेशोत्सव का यह दृश्य अभूतपूर्व था। लोगों का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया।

सूरिजी के पधारने पर नगरवासियों मे नवजीवन का संचार होने लगा। उनके उपदेशामृत की झड़ी से अनेक लोगों

की सन्तप्त आत्मायें शान्ति-लाभ करने लगीं। नृपति मदनपाल भी अनेक समय दर्शनार्थ आकर सूरिजी के उपदेशों का लाभ उठाते थे। द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति उनका धर्म-प्रेम दिनोंदिन बढ़ने लगा।

श्रे० कुलचन्द्र पर गुरु-कृपा

श्रीजिनचन्द्रसूरिजी को दिल्ली में रहते हुए कई दिन बीत गए। एक दिन अपने अत्यन्त भक्त श्रावक कुलचन्द्र को धनाभाव के कारण दुर्बल देख कर दयालु आचार्य महाराज ने कुंकुम कस्तूरी, गोरोचन आदि सुगन्धित पदार्थों से लिखे हुए मन्त्राक्षर युक्त यन्त्रपट्ट कुलचन्द्र को देते हुए कहा—इस यन्त्रपट्ट को अपनी मुष्टि प्रमाण वासक्षेप से प्रतिदिन पूजना, यन्त्रपट्ट पर चढ़ा हुआ वह निर्माल्य वासक्षेप पारे आदि के संयोग से सोना हो जायगा। कुलचन्द्र भी सूरिजी की बतलाई हुई विधि के अनुसार पूजा करने लगा जिससे वह अल्पकाल में करोड़पति हो गया।

देवता प्रतिबोध

एक दिन सूरिमहाराज दिल्ली के उत्तरीय दरवाजे से बहिर्भूमि जा रहे थे। उस दिन महानवमी अर्थात् नवरात्रि का अन्तिम दिन था। मार्ग में जाते हुए मांस के लिये लड़ते हुए दो मिथ्यादृष्टि देवताओं को देखा। दयालु हृदयवाले आचार्य

महाराज ने उनमे से अतिवल नामक देवता को प्रतिवोध दिया। वह भी उपशान्त होकर सूरिजी से कहने लगा—आपके उपदेश से मैंने मासवलि का परित्याग कर दिया है परन्तु कृपा कर के मुझे रहने के लिए कोई स्थान वतलावें जहाँ रहता हुआ मैं आपके आदेश का पालन कर सकूं।

सूरिजी ने कहा—अच्छा, श्रीपार्श्वनाथ विधिचैत्य मे प्रवेश करते समय दक्षिणस्तम्भ मे जाकर निवास करो।

देवता को इस प्रकार आश्वासन देकर सूरिजी पौषधशाला मे पधारे। उन्होंने सा० लोहड, सा० कुलचन्द्र, सा० पाल्हण आदि प्रधान श्रावकों को सारी वात कह सुनाई और श्रीपार्श्वनाथ मन्दिर के दक्षिणस्तम्भ में अधिष्ठायक की मूर्त्ति उत्कीर्ण करने का संकेत किया। श्रावकों ने भी वैसा ही किया, सूरिजी ने वड़े विस्तार से उसकी प्रतिष्ठा कर अधिष्ठायक का नाम "अतिवल" प्रसिद्ध किया, श्रावक लोग अधिष्ठायक की अच्छे अच्छे मिष्टान्नों द्वारा पूजा करने लगे और अतिवल भी उनके मनोवांछित पूर्ण करने लगा।

स्वर्गवास

इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुए सूरिजी ने अपना आयु शेप निकट जान कर सं० १२२३ के द्वितीय भाद्रपद कृष्णा १४ को चतुर्विध संघ से क्षमतक्षामणा की और अनशन आराधना के

साथ स्वर्ग सिधारे [१]। अन्त समय मे श्रावकों के समक्ष आप श्री ने एक भविष्यवाणी की कि "शहर के जितनी ही दूर हमारा देह-संस्कार किया जायगा, नगर की आबादी उतनी ही दूर तक बढ जायगी" इन शब्दों को स्मरण कर श्रावक लोग सूरिजी की पवित्रदेह को बडे समारोह के साथ अनेक मण्डपिकाओं से मण्डित निर्यान-विमान मे विराजमान कर नगर के बहुत दूर ले गए। चन्दन कर्पूरादि सुगन्धित द्रव्यों से सूरि-महाराज की अन्त्येष्टिक्रिया की गई [२]।

सूरिजी की देह के अन्तिम दर्शन करते हुए श्री० गुणचन्द्र [३] गणि पूज्यश्री के गुण वर्णनात्मक काव्यो से इस प्रकार स्तुति करने लगे—

---

१ पट्टावलियों में लिखा है कि आपका स्वर्गवास योगिनी के छल से हुआ था।

२ यह स्थान अभी दिल्ली में कुतुब मीनार के पास 'बड़े दादाजी' के नाम से प्रसिद्ध है। पट्टावलियों मे इस स्तूप का अधिष्ठाता खोडिया (खज) क्षेत्रपाल लिखा है।

३ स० १२३२ फाल्गुण शुक्ला १० विक्रमपुर मे इनके स्तूप की प्रतिष्ठा श्रीजिनपतिसूरिजी ने की थी। गणधरसार्धशतक की बृहद्वृत्ति मे इनका परिचय इस प्रकार मिलता है—

ये पहले श्रावक थे, एक तुर्क ने इनकी हस्तरेखा देख "यह अच्छा भण्डारी होगा" ज्ञात कर भाग जाने की सम्भावना से इन्हे दृढ जजीर से



मणिधारीजी का समाधिस्थल, दिल्ली

(१)

चातुर्वर्ण्यमिदं मुदा प्रयतते तद्रूपमालोकितु
माद्दक्षाश्च महर्षयस्तव वचः कर्तुं सदैवोद्यता।
शक्रोऽपि स्वयमेव देवमहितो युष्मत्प्रभामीहते
तत्कि श्रीजिनचन्द्रसूरिसुगुरो स्वर्गं प्रति प्रस्थितः॥

अर्थात्—हे सुगुरु श्रीजिनचन्द्रसूरि महाराज। चारों वर्णों के लोग सदैव आपका दर्शन करने के लिए सहर्ष प्रयत्न किया करते थे। वैसे ही हम साधु लोग भी हमेशा आपकी आज्ञा के लिए प्रस्तुत रहा करते थे फिर भी आप हम निरपराधी लोगों को छोड कर स्वर्ग सिधार गए इसका एक मात्र कारण हमारी समझ में यही आता है कि देवताओं के साथ स्वयं देवराज शक्रेन्द्र भी बहुत समय से आपके दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहा होगा।

(२)

साहित्यं च निरर्थकं समभवन्निर्लक्षणं लक्षणं
मन्त्रैर्मन्त्रपरैरभूयत तथा कैवल्यमेवाश्रितम्।

बांध दिया। इस विपत्ति के समय इन्होंने लक्ष नवकारमन्त्र का जाप किया जिसके प्रभाव से जंजीर टूट गई और रात्रि के पिछले प्रहर में बन्धन मुक्त हो कर किसी वृद्धा के घर पहुंचे। उसने सदय हो कर इन्हें कोठी में छिपा लिया। तुरुष्क के बहुत खोजने पर भी ये उनके हाथ न लगे और रात्रि के समय निकल कर स्वदेश लौटे। इस विपत्ति के समय वैराग्य पाकर इन्होंने श्रीजिनदत्तसूरिजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की थी।

त्वय्या जिनचन्द्रसूरि वरते स्वर्गाधिरोहे हहा !
सिद्धान्तः इकरिष्यते किमपि यत्तन्नैव जानीमहे ॥

अर्थात्—आपके स्वर्ग पधारने पर साहित्य शास्त्र निरर्थक हो गया. अर्थात् आप ही उसके पारगामी मर्मज्ञ थे, वैसे ही न्यायशास्त्र लक्षण शून्य हो गया, आपका आश्रय टूट जाने से निराधार मन्त्रशास्त्र के मन्त्र परस्पर में मन्त्रणा करते हैं कि अब हमें किस का सहारा लेना चाहिए ? अर्थात्—आप मन्त्र-शास्त्र के भी अद्वितीय ज्ञाता थे। इसी प्रकार ज्योतिष की अवान्तर भेद रमल-विद्या ने आपके वियोग में वैराग्य वश मुक्ति का आश्रय लिया है, अब सिद्धान्त शास्त्र क्या करेंगे ? इसका हमें पता नहीं है।

(३)

प्रामाणिकैराधुनिकैर्विधेयः प्रमाणमार्गः स्फुटमप्रमाणः ।
हहा ! महाकष्टमुपस्थितं ते स्वर्गाधिरोहे जिनचन्द्रसूरेः ॥

अर्थात्—आधुनिक मीमांसकों के लिये प्रमाण मार्ग अप्रमाण स्वरूप हो गया है क्योंकि उसका विशेषज्ञ अब पृथ्वी पर नहीं रहा, श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ! आपके स्वर्गाधिरोहण से सब शास्त्रों में बड़ी हलचल मच गई है।

इस प्रकार गुरु गुण गान करते करते श्रीगुणचन्द्रगणि अधीर हो उठे। उनकी आँखों से अश्रुओं की धारा बहने लगी। इसी तरह अन्य साधु लोग भी गुरुस्नेह से विह्वल होकर परस्पर में

पराङ्मुख हुए अश्रुपात करने लगे। उपस्थित श्रावक लोग भी वस्त्राञ्चल से नेत्र ढांक कर हिचकियां लेने लगे। इस समय चारों ओर मानो शोकसागर उमड पडा था। गुरुविरह के अतिरिक्त किसी को अन्य कोई बात नहीं सूझ पड़ती थी। सच-मुच इस अप्रिय दृश्य को देख कर अन्य दर्शक लोग भी अपने हृदय को थामने में असमर्थ से हो गए।

इस असमञ्जस अवस्था को देख कर कुछ क्षण के पश्चात् श्री गुणचन्द्रगणि स्वयं धैर्य्य धारण करके साधुओं के प्रति इस प्रकार कहने लगे—

"हे महासत्वशील साधुओ। आप लोग अपनी आत्मा को शान्ति दें, खोया हुआ रत्न अब लाख उपाय करने पर भी हाथ नहीं आने का। पूज्यश्री ने अपने अन्तिम समय में मुझे आव-श्यक कर्त्तव्यों का निर्देश किया है, मैं उनकी आज्ञानुसार वैसा ही करूंगा कि जिस से आप सब को सन्तोष हो। इस समय आप लोग मेरे साथ साथ चले आइए।"

इस समय दाह संस्कार[1] सम्बन्धी क्रिया-कलाप को सम्पा-दित कर सर्वादरणीय भाण्डागारिक श्रीगुणचंद्र गणि पौषधशाला मे पधारे। वहाँ कुछ दिन ठहर कर चतुर्विध संघ के साथ बब्बे-रक की ओर विहार कर दिया।

श्रीगुणचन्द्र गणि ने बब्बेरक जाकर श्रीजिनचद्रसूरिजी की आज्ञानुसार नरपति मुनि को श्रीजिनदत्तसूरिजी के वृद्ध शिष्य

महोत्सव में देशान्तरीय संघ¹ भी सम्मिलित हुआ था। इसी समय श्रीजिनचन्द्रसूरिजी के शिष्य वाचनाचार्य जिनभद्र भी आचार्य पद देकर श्रीजिनभद्राचार्य नामक द्वितीय श्रेणि के आचार्य बनाये गये।

पट्टावलियों की दो विशेष बातें

मणिधारीजी का उपर्युक्त चरित्र उपाध्याय श्री जिनपाल रचित गुर्वावली के आधार पर लिखा गया है। पट्टावलियों में और भी कई बातें पाई जाती हैं, जिन में बहुत सी बातें भ्रान्त और असंगत ज्ञात होती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से निम्नोक्त दो बातें कुछ तथ्यपूर्ण प्रतीत होने से यहा लिखी जाती हैं –

१ श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने महत्तियाण (मन्त्रिदलीय) जाति की स्थापना की थी, जिन की परम्परा में से कई व्यक्तियों ने पूर्वदेश के तीथों का उद्धार कर शासन की बड़ी भारी सेवा की है। सतरहवीं शताब्दी पर्य्यन्त इस जाति के बहुत से घर अनेक स्थानों में थे पर इसके बाद क्रमशः उसकी संख्या घटन

---

¹ जिनपतिसूरिजी के उपर्युक्त प्रसङ्ग से मानदेव के मग्रदिराम्भज और जिनपतिसूरिजी पर असीम स्नेह का पता लगता है। सं० १२३३ के आषाढ़ में कन्यानयन (करनाल ?) स्थान में इन्हीं मानदेव ने श्री महावीर स्वामी की प्रतिमा श्रीजिनपतिसूरिजी से स्थापित करवाई थी। इस प्रतिमा का विशेष वर्णन जिनप्रभसूरि रचित विविध-तीर्थकल्प के कन्यानयन कल्प को देखना चाहिए।

घटते नाम शेष हो गई है। इस जाति के विषय मे हमारा एक स्वतन्त्र लेख 'ओसवाल नवयुवक' के वर्ष ७ अंक ६ मे प्रकाशित हुआ था, पाठकों के अवलोकनार्थ उसे परिशिष्ट में दिया जाता है।

२ श्रीजिनचन्द्रसूरिजी के ललाट मे मणि[1] थी और उसी के कारण उनकी प्रसिद्धि 'मणिधारीजी' के नाम से हुई है। इस मणि के विषय मे पट्टावलीकारों का कहना है कि सूरिजी ने अपने

---

1 सवत् १४१२ की राजगृह प्रशस्ति मे इसका उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है :—

तत पर श्रीजिनचन्द्रसूरिर्बभूव नि:सगगुणास्तभूरि
चिन्तामणिर्भालतले यदीयेऽभ्युन्नाम वामादिव भाग्यलक्ष्म्या ॥१२॥
(प्राचीन-जैन-लेख-सग्रह, लेखाङ्क ३८०)

इसके पीछे का उल्लेख हमारे 'ऐतिहासिक-जैन-काव्य-सग्रह' पृ० ४६ मे प्रकाशित खरतरगच्छ पट्टावली मे, जो कि श्रीजिनभद्रसूरिजी के समय मे रची गई थी, मिलता है:—

"नरमणि ए जासु निलाडि, झलहलइ जेम गयणहि दिणदो"

'खरतरगच्छ पट्टावली सग्रह' मे प्रकाशित 'सूरि परम्परा प्रशस्ति' एव पट्टावली त्रय मे इसका वर्णन विशेष रूप से मिलता है। लगभग उसी प्रकार का वर्णन श्रीललितविजयजी विरचित यशोभद्रसूरि चरित्र में उन आचार्यश्री के सम्बन्ध मे पाया जाता है। इसकी समानता बतलाने के लिए उस ग्रन्थ से आवश्यक अवतरण यहा दिया जाता है —

अन्त समय में श्रावक लोगों को कहा था कि अग्नि संस्कार के समय हमारी देह के सन्निकट दूध का पात्र रखना ताकि वह मणि निकल कर उसमें आ जायगी पर श्रावक लोग गुरु विरह से व्याकुल होने के कारण ऐसा करना भूल गए और भवितव्यता से वह मणि एक योगी के हाथ लगी। श्रीजिनपतिसूरिजी ने उस योगी की स्थम्भित प्रतिमा को प्रतिष्ठित कर उससे वह मणि पुनः प्राप्त कर ली थी।

मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरिजी बड़े प्रतिभाशाली थे अतः खरतरगच्छ मे प्रति चौथे पट्टधर का नाम यही रखा जाने की परिपाटी इन्हीं से प्रचलित होने का पट्टावलियों में उल्लेख है।

"श्री आचार्य महाराज इस वृतान्त को सुन कर अपने ज्ञान का उपयोग देकर बोले—मेरी ६ महीने की आयुः बाकी है, मेरे मस्तक मे एक प्रभावशाली मणि है उसे लेने के लिए यह (योगी) कई उपाय करेगा परन्तु तुम पहले ही मेरे मृतक शरीर मे से उस मणि को निकाल लेना और पीछे अग्नि सस्कार करना—इस तरह की सूचना भक्त श्रावक को देकर विक्रम स० १०३९ में आचार्य यशोभद्र समाधि पूर्वक स्वर्गारूढ हुए। आचार्यश्री का स्वर्गवास सुन कर वह योगी तत्काल अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए वहां आ पहुँचा। उसने आचार्य महाराज के मस्तक की मणि लेने के लिए अनेक प्रयत्न किए। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि मणि निकाला गया और वह मुझे किसी तरह कोई उपाय करने पर नहीं मिलेगा तब निराशा के दुःख को न सहन करते हुए उस योगी का हृदय फट गया।"

सं० १२६४ में अंचलगच्छ के आचार्य श्रीमहेन्द्रसूरि विरचित शतपदी ग्रन्थ के भाषान्तर पृष्ठ १५२ में "श्रीजिनचन्द्रसूरि नी आचरणाओ" रूप से तीन बातें लिखी हैं, वे इस प्रकार हैं,—

१ एक पट्ट ना नवकार ५ लोकपाल. यक्ष. यक्षिणी. क्षेत्रदेवता, भवनदेवता. शासनदेवता. साधर्मिकदेवता. भद्रकदेवता. आगन्तुक देवता तथा ज्ञान. दर्शन. अने चारित्रना देवता एवं २५ देवता नी कुल कुंडी ऊभी करी।

२ जिनदत्तसूरि चैत्यमां नानी के वृद्ध वेश्या ने नचाववुं ठेहराव्यं. युवान वेश्या तथा गानारी स्त्रियों नु निषेध कर्यो पण जिनचन्द्रसूरि ए बधी वेश्यानु निषेध कर्यो।

३ जिनदत्तसूरिए श्राविका ने मूल प्रतिमा ने अडकवुं निषेध्यु छे पण जिनचन्द्रसूरिए तो एम ठेहराव्युं के श्राविकाओ सर्वथा शुचि नहीं ज होय माटे तेमणे कोई पण प्रतिमा ने नहीं अडकवु।

खरतरगच्छीय ग्रन्थों में इन आचरणाओ के सम्बन्ध में कोई उल्लेख है या नहीं? यह हमें अज्ञात है।

ग्रन्थ-रचना

आपकी विद्वद् प्रतिभा की परिचायक कोई कृति आज सामने नहीं है। केवल एक व्यवस्थाकुलक—(साधु. साध्वी. श्रावक. श्राविका शिक्षाकुलक) ही उपलब्ध है. जिसे सानुवाद इस पुस्तिका में प्रगट किया जा रहा है।

आपके शासनकाल में रचित खरतरगच्छ का विस्तृत साहित्य उपलब्ध नहीं है। अद्यावधि हमारे अवलोकन मे केवल एक ही ग्रन्थ "ब्रह्मचर्य प्रकरण" गा० ४३ का आया है जो कि श्रावक कपूरमल्ल की कृति है। यह ग्रन्थ छोटा सा एवं अप्रकाशित होने के कारण इस पुस्तक के परिशिष्ट में दे दिया गया है।

उपसंहार

महात्मा भर्तृहरि की यह उक्ति "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" सोलहो आने सत्य है। मणिधारीजी की दीक्षा केवल छः वर्ष और आचार्य पद भी ८ वर्ष जैसी लघु-वय मे योगीन्द्र युगप्रधान परमपितामह श्रीजिनदत्तसूरिजी के द्वारा होना बहुत ही विस्मयकारक एव आपकी अद्वितीय प्रतिभा का परिचायक है। चैत्यवासी पद्मचन्द्राचार्य जैसे वय एवं ज्ञानवृद्ध आचार्य को शास्त्रार्थ मे परास्त करना और दिल्लीश्वर महाराज मदनपाल का चमत्कृत हो अनन्य भक्त बनना आपकी विशिष्ट जीवनी के उत्तम प्रतीक है। खेद है कि आपके जीवनचरित्र को श्रीजिनपालोपाध्याय ने बहुत ही संक्षिप्त रूप मे संकलित किया है जिसके कारण हमे आपके सच्चे व्यक्तित्व को पहचानने मे कठिनता होती है पर हम श्रीजिनपालोपाध्याय को इस सद्प्रयत्न के लिए साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि आज हमे जो कुछ भी वास्तविक इतिवृत्त प्राप्त हुआ है वह उन्हीं की कृपा का सुफल है।

महोपाध्याय श्री पुण्यसागर कृत

॥ श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टकम् ॥

श्रीजिनदत्तसूरिन्द पय, श्रीजिनचन्द्रमुणिन्द।
नय (?र) जगि मंडिउ भाल यल, कुशल कुमर जगचंद ॥१॥
संवत सिव सत्तागवयं, भद्दवसि सुदि जन्म।
रासल तात सुमातु जसु, देल्हण देवि सुवन्न ॥२॥
संवत बार तिरोत्तरय, फागुण नवमि विसुद्ध।
पंच महव्वय सरि धरिय, बालपणि पडिबुद्ध ॥३॥
बारह सइ पंचोत्तरइ ए, वैशाखाह सुदि छट्ठि।
थापिउ विक्रमपुर नयरि, जिणदत्तसूरि सुदिट्ठि ॥४॥
तेविसइ भाद्रव कसिणि, चवदसि सुह परिणामि।
सुरपुरि पत्तउ सुगिपवर, श्री जोयणिपुर ठामि ॥५॥
सुह गुरु पूजा जह करइ ए, नासय तासु किलेस।
रोग सोग आरति टलइ ए, मिलइ लच्छि सुविसेस ॥६॥
नाम मंत्र जे सुद्ध जपइ ए, मधु तसु सुद्धि विसंक।
मनवंछिय सवि तसु हुवइं, कज्जारंभ अशंक ॥७॥
जासु सुजसु जगि निरमिलं ए, चंदुज्जल निकलंक।
प्रभु प्रताप सुग विष्फुरइ, हरइ दुरित अरि संक ॥८॥
इय श्रीजिनचन्द्रसूरि गुरु, संथुणिउ गुणि पुन्न।
श्री "पुण्यसागर" वीनवइ, सद्गुरु होउ सुप्रसन्न ॥९॥

इति श्रीजिनचन्द्रसूरि महाप्रभाविक अष्टकं संपूर्णम्।

॥ अर्हं नमः ॥

परिशिष्ट (१)

श्रीजिनचन्द्रसूरिजी महाराजकृत

व्यवस्था-शिक्षा-कुलकम्

पणमिय वीरं पणयंगिवग्गसग्गापवग्ग-सोक्खकरं ।
सिरिपासधम्मसामिं तीत्थयरं सव्वदोसहरं ॥ १ ॥

प्रणम्य वीरं प्रणताङ्गि-वर्गस्वर्गापवर्गसौख्यकरम् ।
श्रीपार्श्वधर्मस्वामिनं तीर्थकरं सर्वदोषहरम् ॥ १ ॥

अर्थ—नमस्कार करनेवाले भव्यजीव समूह को स्वर्ग और मोक्ष के सुख देने वाले श्री महावीरभगवान को एव धर्म के स्वामी-तीर्थ को करने वाले सब दोषों को हरनेवाले श्री पार्श्वनाथ भगवान को प्रणाम करके ।

साहूण साहुणीणं, तह सावय-सावियाण गुणहेउं ।
संखेवेण दंसेमि, सुद्धसद्धम्मववहारं ॥ २ ॥

१—सुह ।

साधूना साध्वीना तथा श्रावकश्राविकाणा गुणहेतोः ।
संक्षेपेण दर्शयामि शुद्धसद्धर्मव्यवहारम् ॥ २ ॥

अर्थ—साधु साध्वियों के लिये तथा श्रावक श्राविकाओं के गुण का (सुख का) कारण रूप शुद्ध सत्यधर्म के व्यवहार को सक्षेप से दिखाता हूँ।

उसग्गेणं अववाय ओवि-सिद्धंत सुत्तनिद्दिट्ठं ।
गीयत्थाइणं वा धमत्थमणत्थसत्थहरं ॥ ३ ॥

उत्सर्गेण अपवादतोऽपि सिद्धान्तसूत्रनिर्दिष्टम् ।
गीतार्थाचीर्णं वा धर्मात्थमनर्थसार्थहरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—उत्सर्ग अपवाद से आगम-ग्रन्थों द्वारा निर्दिष्ट और गीतार्थों से आचरित वह धर्म-व्यवहार अनर्थसमूह को हरनेवाला होता है ।

जेसिं गुरुंमि भत्ती वहुमाणो गउरवं भयं लज्जा ।
नेहो वि अत्थि तेसिं, गुरुकुलवासो भवे सहलो ॥ ४ ॥

येषा गुरौ भक्ति-र्वहुमानं गौरव भय लज्जा ।
स्नेहोऽप्यस्ति तेषा गुरुकुलवासो भवेत् सफल· ॥ ४ ॥

अर्थ—जिनकी गुरु महाराज में भक्ति है, वहुमान है, गौरव है गुरु महाराज से जो डरते हैं,—खराब काम करने मे लज्जा भी करते है और गुरुमहाराज के प्रति स्नेह भी रखते हैं उन साधु पुरुषों का गुरुकुलवास सफल हो जाता है ।

अवन्नवाइणो सीसा, माणिणो छिद्दपेसिणो[1]।
सबुद्धिकयमाहप्पा, गुरुणो रिउणो व्व ते नेया ॥ ५ ॥

अवर्णवादिनः शिष्या मानिनश्छिद्रप्रेक्षिणः।
स्वबुद्धिकृतमाहात्म्या गुरोरिपव इव ते ज्ञेयाः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो शिष्य गुरुमहाराज के अवर्णवादी है अभिमानी और छिन्द्रान्वेषी हैं अपने को अधिक बुद्धिमान समझने वाले हैं उनको शिष्य नहीं गुरुमहाराज के शत्रु जैसे मानने चाहिये।

नाणदंसणसंजूत्तो[2] खेत्तकालाणुसारओ।
चारित्ते[3] वट्टमाणो जो सुद्धसद्धम्मदेसओ[4] ॥ ६ ॥

ज्ञानदर्शनसंयुक्तः क्षेत्रकालानुसारगः।
चारित्रे वर्त्तमानो यः शुद्धसद्धर्म देशकः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो सम्यग् दर्शन और ज्ञान से संयुक्त हैं क्षेत्र और काल के अनुसार ही चारित्र में वर्तमान हैं ये ही साधु पुरुष शुद्ध और सत्य धर्म के उपदेशक हो सकते हैं।

---

१ पेहिणो।

२—जुत्त। ३—चरित्ते। ४—देसिओ।

पासत्थाइ भयं जस्स-माणसे नत्थि सव्वहा ।
सव्वविज्जाय-तत्तन्नु खमाइगुणसंजुओ ॥ ७ ॥

पार्श्वस्थादि भयं यस्य मानसे नास्ति सर्वथा ।
सर्वविद्यातत्त्वज्ञ. क्षमादिगुणसंयुक्त ॥ ७ ॥

अर्थ—पतित आचार वाले पासत्थों का भय जिनके मन में सर्व्वथा नहीं है। जो सब विद्या-तत्त्वों के जानकार होते हैं। जो क्षमादि गुणों करके संयुक्त होते हैं।

पुरओ जस्स नन्नस्स जओ होज्ज विवाइणो ।
भवे जुगप्पहाणो सो सव्वसोक्खकरो गुरू ॥ ८ ॥

पुरतो यस्य नान्यस्य जयो भवेद् विवादितः ।
भवेद् युगप्रधान. स सर्वसौख्यकरो गुरुः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिनके सन्मुख किसी विवादी-वादी का जय नहीं हो सकता वे युग के प्रधान गुरु सब सुख को करने वाले होते हैं।

बारसंगाणि संघो वि वोत्तं पवयणं फुडं ।
पासायमिव खंभोव्व तं धरेइ सया य सो ॥ ९ ॥

द्वादशाङ्गानि संघोपि-उक्तं प्रवचनं स्फुटम् ।
प्रासादमिव स्तम्भ इव-तद्धरति सदा च सः ॥ ९ ॥

अर्थ—द्वादशांगी और संघ को सूत्रों में स्पष्ट रूप से प्रवचन कहा है। इनको महल में खंभे के जैसे हमेशा वही गुरु धारण करता है।

तदाणाए पयट्टंतो, संघो मन्नइ सग्गुणो।
वियप्पेण विणा सम्मं, पावए परमं पयं॥ १०॥

तदाज्ञायां प्रवर्त्तन् संघो मण्यते सद्गुणः।
विकल्पेन विना सम्यक् प्राप्नुयात् परमं पदम्॥ १०॥

अर्थ—तथोक्त प्रवचनाधार युगप्रधान गुरु की आज्ञा मे वर्तता हुआ संघ ही सद्गुणी कहा जा सकता है। बिना किसी संकल्प विकल्प के सम्यक् परमपद को वह प्राप्त करता है।

जिणदत्ताणमासज्ज, जं कीरइ तयं हियं।
जो तं लंघई मोहा-भवारन्ने भमेइ सो॥ ११॥

जिन-दत्ताज्ञामासाद्य यत्क्रियते तद् हितम्।
यस्तं लङ्घयति मोहाद्-भवारण्ये भमित्ति सः॥११॥

अर्थ—श्रीजिनभगवान की दी हुई आज्ञा को श्रीजिनदत्ताज्ञा को पाकर के जो अनुष्ठान किया जाता है वह हितकारी होता है। जो मोह से उस का—श्रीजिनदत्ताज्ञा का उल्लघन करता है, वह भवाटवी मे भटकता है।

पढणं सवणं झाणं, विहारो गुणणं तहा।
तवो कम्म विहाणं च, सीवणं तुन्नणाइ वि॥ १२॥

पठनं श्रावणं ध्यानं-विहारो गुणनं तथा ।
तपः कर्म विधानं च, सीवनं तुन्ननाद्यपि ॥१२॥

अर्थ—पढ़ाना, सुनाना, ध्यान करना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने रूप विहार करना, गुनना, तपश्चर्या क्रियाविधान और सीना तुन्ना आदि ।

भोयणं सुवणं जाणं ठाणं दाणं निसेहणं ।
धारणं पोत्थयाईणं, आणाए गुरुणो सया ॥ १३ ॥

भोजनं शयनं यानं स्थानं दानं निषेधनम् ।
धारणं[1] पुस्तकादीना-माज्ञया गुरोः सदा ॥ १३ ॥

अर्थ—भोजन करना, सोना, गमन करना, स्थिति करना, दान करना, निषेध करना, पुस्तक आदिकों का धारण करना इत्यादि अनुष्ठान गुरु की आज्ञा से ही करने चाहिये ।

तं कज्जंपि न कायव्वं, जं गुरुहिं न मन्नियं ।
गुरुणो जं जहा बिंति, कुज्जा सीसो तहाय तं ॥१४॥

तत्कार्यमपि नो कर्तव्यं यद् गुरुभिर्न मानितम् ।
गुरवो यद् यथा ब्रुवते कुर्याच्छिष्यस्तथा च तत् ॥१४॥

अर्थ—ऐसा कार्य करना ही नहीं चाहिये जो गुरुओं के अनुमत न हो । गुरुमहाराज जब जो काम फरमावें शिष्य को चाहिये कि वह उसी कार्य को करे ।

१—पुत्थयाईण ।

वायणा सूरिणो जुत्ता, निसेज्जा पयकंवला।
चउक्की पुट्ठिवट्टो य, पायाहो-पाय पुंछणं ॥ १५ ॥

वाचना सूरेर्युक्ता निपद्या पदकम्बला।
चतुष्किका पृष्टिपट्टश्च-पादाधः पादप्रोंछनम् ॥ १५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज मे वाचना का होना युक्त है। आसन पद-कम्बल चौकी पीठफलक और पैरों के नीचे पादप्रोंछन भी आचार्य महाराज के लिये होते हैं।

अर्थ - वाचनाचार्य के लिये निपद्या—आसन पदकम्बल चौकी पीठफलक पदतल पादप्रोंछन होना युक्त है।

पाएसुं चंदणं जुत्तं न कप्पुराइ खेवणं।
साविया धवले दिंति, एसो सुगुरु दिक्खिओ ॥ १६ ॥

पादयोश्चन्दनं युक्तं न कर्पूरादिक्षेपणं।
श्राविका धवलान् ददत्येप सुगुरुर्दृष्टः ॥ १६ ॥
त्येप (विधिः) सुगुरुदर्शितः ॥

अर्थ—अगपूजा के समय आचार्यदेव के चरणों में चदन लगाना युक्त है, न कि कर्पूर आदि का खेना। आचार्य देव के सामने श्राविकाएँ धवल देती हैं मगल गीत गाती हैं। एसे सुगुरु देखे गये हैं। अथवा यह सुगुरु का फरमान है।

अर्थ—वाचनाचार्य के चरणों में चन्दन पूजा ही युक्त है, न कि कर्पूर आदि का डालना। श्राविकाएँ धवल करती हैं—मंगल गाती हैं। यह सुगुरु का फरमान है।

पहुजिणवल्लभसरिसो वाणायरिओ वि होइ जइ कोवि।
कप्पूरवासखिवणं तस्स सिरे कीरई जुत्तं ॥ १७ ॥

प्रभुजिन वल्लभ सदृशो-वाचानाचार्योऽपि भवति यदि कोऽपि।
कर्पूरवास क्षेपणं तस्य-शिरसि क्रियते युक्ताम् ॥ १७ ॥

अर्थ—समर्थ ऐसे श्रीजिनवल्लभजी महाराज के जैसे वाचनाचार्य यदि कोई हो तो उनके मस्तक पर कर्पूरवास का डालना युक्त ही है।

कीरई वासनिक्खेवो उज्झायस्सय संगओ।
अक्खणय सकप्पूरं न दिज्जंति य तस्सिरे ॥१८॥

क्रियते वासनिक्षेप-उपाध्यायस्य च संगत.।
अक्षतान सकर्पूरान्-न दीयन्ते च तच्छिरसि ॥ १८ ॥

अर्थ—उपाध्यायजी महाराज के ऊपर वास-क्षेप का करना संगत है। कर्पूर सहित अक्षतों को उनके मस्तक पर नहीं डालने चाहिये।

जो सिंहठाणिओ सूरी, सो होइ पवयणपहुत्ति।
पवयणपभावणा हेउं, तस्स पदसारओ कुज्जा ॥१९॥

यः सिंहस्थानीयः सूरिः स भवेत प्रवचनप्रभुरिति ।
प्रवचनप्रभावनाहेतोः, तस्य पदसारकः कुर्यात् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो सिंह के जैसे होते हैं वे आचार्य प्रवचन के स्वामी होते हैं। ऐसा जान कर प्रवचन की प्रभावना के हेतु उनकी पदपूजा पधरावणी विस्तार से करे।

वसहट्ठाणिया जे उ सामन्नेणं तु कीरइ ते सिं।
जंबु ट्ठाणियाणं तु जुत्तो संखेवओ समासेणं ॥२०॥

वृषभस्थानीया ये तु सामान्येन तु क्रियते तेषाम् ।
जंबुकस्थानीयानां तु युक्तः संक्षेपतः समासेन ॥ २० ॥

अर्थ—जो आचार्य बैल के जैसे प्रवचन को चलाते हैं उनकी पदपूजा सामान्य से की जाती है, और जो नाममात्र के आचार्य—जम्बुक स्थानीय सीयाल के जैसे हैं, उनकी पदपूजा संक्षेप से करनी युक्त होती है।

अट्ठाहियाइपव्वेसु निज्झइ छत्तं गिहेसु जुत्तमिणं।
सामन्नसाहुवत्थाइ दाणं दियहे न जुत्तं तं ॥२१॥

अष्टाहिकादिपर्वसु दीयते छत्रं गृहेषु युक्तमिदम् ।
सामान्य साध्ववस्थायामिदानीं दीयते न युक्तं तत् ॥२१ ॥

अर्थ—अट्ठाहि आदि पर्वों में [गृहस्थों के] घरों में [आचार्य के लिये] छत्र लगाया जाता है। यह युक्त है। आजकल सामान्य साधु अवस्था में दिया जाता है वह युक्त नहीं है।

तदुत्तवयणासत्तो विहाराइसु वट्टइ।
अकहियो गुरुणा नेय लेइ किंपि न मिल्लह ॥ २२ ॥

तदुक्तवचनासक्ते विहारादिपु वर्त्तते।
अकथितो गुरुणा नैव लाति किमपि न त्यजति ॥ २२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त आचार्यदेव के वचनों में आसक्त होता हुआ साधु विहारादिक में प्रवृत्ति करता है। गुरु के विना कहे न कुछ लेता है न कुछ छोडता है।

ठाविओ गुरुणा जत्थ जो अज्जाइण पालगो।
तेण ताओ वि अज्जाओ, पलणिज्जा गुरुत्तए ॥२३॥

स्थापितो गुरुणा यत्र य आर्यादीनां पालकः।
तेन ता अप्यार्या. पालनीया गुरुतया ॥ २३ ॥

अर्थ—जहा पर जिसको गुरुमहाराज ने आर्यादिकों का पालक रक्षा करने वाला नियुक्त किया है उनको चाहिये कि गुरु-आचार्य के जैसे ही उन आर्याओं की रक्षा करे।

गुरु आणाए वट्टंतो सो अज्जाहिं पि सायरं।
गुरुव्व मन्नणिज्जोत्ति तदुत्त करणा सया ॥ २४ ॥

गुर्वाज्ञायां वर्त्तन् स आर्याभिरपि सादरम्।
गुरुरिव माननीय इति तदुक्तकरणात् सदा ॥ २४ ॥

अर्थ—आर्याओं को भी चाहिये कि वे गुरु आज्ञा में वर्तमान उस पालक की गुरु के जैसे ही हमेशा उसकी कही हुई आज्ञा को करते हुए सादर सन्मान करें।

जइ को विदेइ अज्जाणं वत्थाइ सयणोतयं।
घेतव्वं तं तदाणाए ताहिं समणीहिं नन्नहा ॥ २५ ॥

यदि कोऽपि ददात्यार्याभ्यो-वस्त्रादि स्वजनस्तत।
गृहीतव्यं तत् तदाज्ञया ताभिः श्रमणीभिर्नान्यथा ॥ २५ ॥

अर्थ—यदि कोई स्वजन-सम्बन्धी आर्याओं को वस्त्र आदि देता है तो उस पालक की आज्ञा में उन श्रमणीयों को ग्रहण करना चाहिये। नहीं तो नहीं।

सयणाईहिं पि जं दिन्नं तंतस्सप्पिति भावओ।
जइ सो तासिं तं देइ, तया गिण्हंति ताओवि ॥२६॥

स्वजनादिभिरपि यद्दत्तं-तत्तस्मायर्पन्ति भावतः।
यदि स ताभ्यो ददाति तदा गृण्हन्ति ता अपि ॥ २६ ॥

अर्थ—स्वजनादिकों ने जो कुछ दिया भाव से उस-पालक को अर्पण करना चाहिये। यदि वह-पालक उस वस्त्रादि को उन्हें दे तो उस समय उनको ग्रहण करना चाहिये।

जइ तस्स न निवेयन्ति तं गिण्हंति जहामई।
आणा भट्ठा तया अज्जा पावंति य न मंडलिं ॥२७॥

यदि तस्मै न निवेदयन्ति तद्गृणहन्ति यथामति।
आज्ञाभ्रष्टा सा आर्या प्राप्नोति च न मण्डलीम्॥ २७॥

अर्थ—यदि उस पालक को निवेदन नहीं करती हैं और यथामति-स्वेच्छा से ग्रहण करती है तो वे आर्यायें आज्ञा से भ्रष्ट हैं और मडलि समुदाय में रहने योग्य नहीं है।

जइ सो न देइ अज्जाणं लद्धवत्थाइ लोहओ।
सुगुरुत्ताओ चुक्को मण्डलिं पावए कहिं॥ २८॥

यदि स न ददात्यार्याभ्योः लब्धवस्त्रादि लोभतः।
सुगुरुतातश्च्युतः मंडलीं प्राप्नुयात् कथम्॥ २८॥

अर्थ—यदि वह पालक लोभ से पाये हुए वस्त्रादि उन आर्याओ को नहीं देता है तो वह अपने गुरुत्त्व से भ्रष्ट होता है। वह कैसे मडलि का पालन करेगा? सर्वथा नहीं।

देवस्स नाण दव्वं तु साहारण धणं तहा।
सावगेहिं तिहा काउं नेयव्वं वुड्ढि मायरा॥ २९॥

देवस्य ज्ञान द्रव्यं तु साधारणं धनं तथा।
श्रावकैस्त्रिधा कृत्वा नेयं वृद्धिमादरात्॥ २९॥

अर्थ—श्रावकों को देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य और साधारणद्रव्य ऐसे धार्मिक धन के तीन भेद करने चाहिये, और तत्परता से इसकी वृद्धि करनी चाहिये।

साहू वा साहुणीओ वा कारित्ता नाणपूअणं।
गिण्हंता सयं जंति आणा भट्टाय दुग्गइं ॥ ३० ॥

साधवो वा साध्व्यो वा कारयित्वा ज्ञानपूजनम्।
गृणह्न्त' स्वयं यान्त्या-ज्ञाभ्रष्टाश्च दुर्गतिम् ॥ ३० ॥

अर्थ— साधु और साध्वियें ज्ञानपूजा कराके स्वय ग्रहण करते हैं तो वे आज्ञाभ्रष्ट हो कर दुर्गति में जाते हैं।

सञ्जओ सञ्जई सङ्ढो, सड्ढी वा कलहं करे।
चुक्‍ंति दंसणाओ ते होउं तइपभावगा ॥ ३१ ॥

संयतः संयती श्राद्धः श्राद्धी वा कलहं क्रियात्।
भ्रश्यन्ति दर्शनात्ते-भूत्वा तदप्रभावकाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका यदि एक दूसरे से कलह करते हैं तो वे सम्यक्त्व मे भ्रष्ठ होते हैं और वे शासन की हीलणा करनेवाले होते हैं।

गिहीणं जे उ गेहाओ, आणित्तासणपाणगं।
निक्कारणं विच्छडंता, जंति ते सुगइं कहं ॥ ३२ ॥

गृहिणां ये तु गृहा—दानाय्यासनपानकम्।
निष्कारणं क्षिपन्तो यान्ति ते सुगतिं कथम् ॥ ३२ ॥

अर्थ— जो साधु साध्वी गृहस्थों के घर से असण पान आदि आहार को ला करके अकारण ही फेंक देते हैं वे कैसे सुगति में जा सकते हैं ?

यदि तस्मै न निवेदयन्ति तद्गृणुहन्ति यथामति।
आज्ञाभ्रष्टा सा आर्या प्राप्नोति च न मण्डलीम्॥ २७॥

अर्थ—यदि उस पालक को निवेदन नहीं करती हैं और यथामति-स्वेच्छा से ग्रहण करती है तो वे आर्यायें आज्ञा से भ्रष्ट हैं और मडलि समुदाय मे रहने योग्य नहीं है।

जइ सो न देइ अज्जाणं लद्धवत्थाइ लोहओ।
सुगुरुत्ताओ चुक्को मण्डलिं पावए कहिं॥ २८॥

यदि स न ददात्यार्याभ्यो: लब्धवस्त्रादि लोभत·।
सुगुरुत्तातश्च्युतः मंडलीं प्राप्नुयात् कथम्॥ २८॥

अर्थ—यदि वह पालक लोभ से पाये हुए वस्त्रादि उन आर्याओ को नहीं देता है तो वह अपने गुरुत्व से भ्रष्ट होता है। वह कैसे मडलि का पालन करेगा? सर्वथा नहीं।

देवस्स नाण दव्वं तु साहारण धणं तहा।
सावगेहिं तिहा काउं नेयव्वं वुड्ढि मायरा॥ २९॥

देवस्य ज्ञान द्रव्यं तु साधारणं धनं तथा।
श्रावकैस्त्रिधा कृत्वा नेयं वृद्धिमादरात्॥ २९॥

अर्थ—श्रावकों को देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य और साधारणद्रव्य ऐसे धार्मिक धन के तीन भेद करने चाहिये, और तत्परता से इसकी वृद्धि करनी चाहिये।

साहू वा साहुणीओ वा कारित्ता नाणपूअणं ।
गिण्हंता सयं जंति आणा भट्ठाय दुग्गइं ॥ ३० ॥

साधवो वा साध्व्यो वा कारयित्वा ज्ञानपूजनम् ।
गृण्हन्तः स्वयं यान्त्या-ज्ञाभ्रष्टाश्च दुर्गतिम् ॥ ३० ॥

अर्थ— साधु और साध्वियें ज्ञानपूजा कराके स्वय ग्रहण करते हैं तो वे आज्ञाभ्रष्ट हो कर दुर्गति में जाते हैं ।

सञ्जओ सञ्जई सड्ढो, सड्ढी वा कलहं करे ।
चुक्कंति दंसणाओ ते होउं तइप्पभावगा ॥ ३१ ॥

संयतः संयती श्राद्धः श्राद्धी वा कलहं क्रियात् ।
भ्रश्यन्ति दर्शनात्ते-भूत्वा तदप्रभावकाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका यदि एक दूसरे से कलह करते हैं तो वे सम्यक्त्व से भ्रष्ठ होते हैं और वे शासन की हीलणा करनेवाले होते हैं ।

गिहीणं जे उ गेहाओ, आणित्तासणपाणगं ।
निक्कारणं विच्छडंता, जंति ते सुगइं कहं ॥ ३२ ॥

गृहिणा ये तु गृहा—दानाय्यासनपानकम् ।
निष्कारणं क्षिपन्तो यान्ति ते सुगतिं कथम् ॥ ३२ ॥

अर्थ— जो साधु साध्वी गृहस्थों के घर से असण पान आदि आहार को ला करके अकारण ही फेंक देते हैं वे कैसे सुगति में जा सकते हैं ?

संगहंति य जे दव्वं गुरुणं न कहंति य।
ते वि भट्टाहमा धिट्ठा भमंति भवसागरे॥ ३३ ॥

संगृह्णन्ति च ये द्रव्यं, गुरून न कथयन्ति च।
तेऽपि भ्रष्टा अधमा धृष्टा भ्रमन्ति भवसागरे ॥३३॥

अर्थ—जो साधु साध्वी द्रव्य का संग्रह करते हैं और गुरु को नहीं कहते हैं। वे भी भ्रष्ट अधम और धीठे भवसागर में भटकते हैं—डूबते हैं।

अवेलाए न साहूणं वसहीए साविगागमो।
साहुणीए विसेसेण ना सहायाइ संगओ॥ ३४ ॥

अवेलायां न साधूना वसतौ श्राविकागमः।
साध्व्या विशेषेण नासहायादौ सङ्गत.॥ ३४ ॥

अर्थ—बिना समय साधुओं के स्थान में श्राविकाओं का आना उचित नहीं है। विशेष रूप से साध्वीयों का आना भी सगत नहीं है। हाँ असहाय अवस्था में सगत हो सकता है।

गीयत्था गुरुणो जं जं खित्त कालाइ जाणगा।
करिंति तमगीयत्थो जो कुज्जा दंसणी न सो॥ ३५ ॥

गीतार्था गुरवो यद्‌यन् क्षेत्र कालादि ज्ञायका.।
कुर्वन्ति तदगीतार्थो यत् कुर्याद् दर्शनी न सः॥ ३५ ॥

अर्थ—क्षेत्र कालादि को जानने वाले गीतार्थ गुरु लोग जो करते हैं उसको बिना समझे जो अगीतार्थ आचरते हैं वे सम्यक्त्वी नहीं हैं ।

सुद्धसद्धम्मकारीणं जे सुगुरूणमंतिए ।
सुद्धं सद्दंसणं लिंति सग्गासिद्धिसुहावहं ॥ ३६ ॥

शुद्धसद्धर्मकारिणां ये सुगुरूणामन्तिके ।
शुद्धं सद्दर्शनं लान्ति, स्वर्गसिद्धिसुखावहम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—शुद्ध सद्धर्म को करनेवाले गुरुओं के पास जो शुद्ध सम्यग्दर्शन-सम्यक्त्व लेते हैं। उनके लिये वह गुण स्वर्ग-सिद्धि के सुख को करनेवाला होता है ।

सावियाओ वि एवं जा गिन्हंति य सुदंसणं ।
तासिं सरीरदव्वाइं होज्जा सुगुरुसंतियं ॥ ३७ ॥

श्राविका अप्येवं या गृण्हन्ति च सुदर्शनम् ।
तासां शरीरद्रव्याणि भवेयुः सुगुरुसत्कानि ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो श्राविकायें भी इस प्रकार सुदर्शन को ग्रहण करती हैं। वे तन, मन से गुरुसेवा में सदैव तत्पर रहती हैं ।

सावया सावियाओ वा गुरुत्तातं धणाइयं ।
जे न चांछंति तं दाउं दिन्नंपि गुरुणा पुरा ॥ ३८ ॥

श्रावकाः श्राविकाश्च वा गुरुस्वात्तद्धनादिकम् ।
ये न वाञ्छन्ति ते दातुं दत्तमपि गुरुभ्यः पुरा ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो श्रावक और श्राविकाएँ गुरुजन के समक्ष दिया हुआ भी धनादिक—वह गुरुस्व होने से देने को नहीं चाहते हैं।

ते कहं तेसिं आणाए वट्टंति समइवसा ।
चत्ता सम्मत्त वत्ता वि दूरं सा तेहिं सव्वहा ॥३९॥ युग्म

ते कथं तेषामाज्ञायां वर्त्तन्ते स्वमतिवशाः ।
त्यक्ता सम्यक्त्ववार्तापि-दूरात्तैः सर्वथा ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस प्रकार के स्वच्छन्द श्रावक श्राविका उन गुरुओं की आज्ञा में कैसे वर्त्तेंगे? इस सम्यक्त्व वार्त्ता को भी दूर से ही उनने सर्वथा त्याग दी है। युग्म

सावया तुच्छवित्ता वि पोसंति सकुडुंवयं ।
धण धन्नोवओगेण, जावज्जीवं पि सायरं ॥ ४० ॥

श्रावकास्तुच्छवित्ता अपि पोषयंति स्वकुटुम्बकम् ।
धनधान्योपयोगेन-यावज्जीवमपि सादरम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अल्प धन वाले भी श्रावक धन-धान्योपयोग से आदर पूर्वक अपने कुटुम्ब को जीवन पर्यन्त पोषते हैं।

तट्ठाणट्ठाण साहूण, मन्नवत्थाइचिंतणं।
कुणंति समणीणं न, तेसिं सम्मत्तमत्थि किं ॥ ४१ ॥

तत्स्थानस्थानां साधूना-मन्नवस्त्रादिचिन्तनम्।
कुर्वन्ति श्रमणीना न, तेषा सम्यक्त्वमस्ति किम् ॥ ४१ ॥

अर्थ धार्मिक कुटुम्ब स्थानीय साधु और साध्वीयों के अन्न-वस्त्र आदि की यदि वे श्रावक चिन्ता-सार सभाल नहीं रखते तो उनमें सम्यक्त्व होता है क्या ? अर्थात् नहीं होता।

जओ वुँत्तं सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाण समाहीए।
वेयावच्चे नियमो सम्मदिट्ठिस्स लिंगाइं ॥ ४२ ॥

यत उक्तं शुश्रूषा, धर्मरागो गुरुदेवानां समाधौ।
वैयवृत्ये नियमः सम्यग्दृष्टेर्लिङ्गानि ॥ ४२ ॥

अर्थ— इसीलिये कहा है कि गुरुदेवों की शुश्रूषा करना, धर्म पर राग रखना, गुरुओं की समाधि को बढ़ाना, वैयावृत्त्य करने का नियम रखना ये सम्यग्दृष्टि के चिह्न हैं।

साहूण कप्पणिज्जं जं नवि दिन्नं कहिं चि (किंचि) तहिं।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजंति ॥ ४३ ॥

साधूनां कल्पनीयं यन्न नापि कर्हिचिन किञ्चित्तर्हि।
धीरा यथोक्तकारिणः सुश्रावका तन्न भुञ्जन्ते ॥ ४३ ॥

अर्थ—तथोक्त कामों को करनेवाले धीरसुश्रावक कहीं पर कुछ भी साधुओं के लिये जो कल्पनीय होता है, उसे साधुओं को बिना दिये नहीं भोगते हैं।

वसहीसयणासणभत्तपाणवत्थ पत्ताइं।
जइवि न पज्जत्तधणो थोवा वि हु थोवयं देइ ॥४४॥
वसति-सयना-सन भक्तपान वस्त्रपात्राणि।
यद्यपि न पर्याप्तधनः स्तोकादपि स्तोकं देयात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—यद्यपि श्रावक पर्याप्त धनवाला न होने पर भी वसति स्थान शय्या-सथारा आसन भात-पानी-औषध-वस्त्र-पात्र आदि थोड़े से भी थोड़ा दे।

एगं विसोवगं सड्ढो तिसु ठाणेसु देइ जो।
अहिगं वा ऊसवाइसु सम्मत्ति होइ नन्नहा ॥४५॥
एतद् विसोपकं (भागं) श्राद्धस्त्रिपु स्थानेपु ददाति यः।
अधिकं वा उत्सवादिपु सम्यक्त्वी भवति नान्यथा ॥४५॥

अर्थ—तीन स्थानों में—देव-गुरु-ज्ञान द्रव्यों की मद में श्रावक एक हिस्सा दे। उत्सवादिकों में अधिक भी दे। अन्यथा सम्यक्त्वी नहीं हो सकता।

अग्गाहणं तु जम्मो य नामाकरण मुंडणं।
पुत्ताइसु विवाहो य हवंति उस्सवा इमे ॥ ४६ ॥

सीमन्तोन्नयनं तु जन्म च नामाकरणं मुण्डनम्।
पुत्रादीनां विवाहश्च भवन्ति उत्सवा इमे ॥ ४६ ॥

अर्थ—सीमतकर्म-जन्म, नामकरण, मुण्डन, पुत्रादिकों के विवाह ये उत्सव के स्थान होते हैं।

उस्सग्गेणासणाईणि कप्पणिज्जाणि जाणिउ।
आहाकम्माइ दोसेण, जाणि चत्ताणि दूर ओ ॥४७॥

उत्सर्गेणासनादीनि कल्पनीयानि ज्ञात्वा।
आधाकर्मादि दोषेण ज्ञात्वा त्याज्यानि दूरतः ॥ ४७ ॥

अर्थ—उत्सर्ग से कल्पनीय असन पान आदि को जान कर साधु ले, और आधाकर्म आदि दोषपूर्ण जान कर दूर से ही त्याग दे।

दायव्वाणि जईणं तु जेण वुत्तं जिणागमे।
पिंडं सेज्जं च वत्थं च पत्तं सिज्जंभवेण उ ॥ ४८ ॥

दातव्यानि यतीना तु येन प्रोक्तं जिनागमे।
पिण्डः शय्या च वस्त्रं च पात्रं च शय्यंभवेन तु ॥ ४८ ॥

अर्थ—यतियों को देने योग्य पिंड, शय्या, वस्त्र और पात्र श्री शय्य भवाचार्य ने दशवैकालिक—जिनागम में कहा है उससे जाने।

एवं सुबहुहा सुत्ते वोत्तमत्थि जहट्ठियं।
तहायरायओ वावि नाणाछत्तसु दंसियं ॥ ४९ ॥

एवं सुबहुधा सूत्रे प्रोक्तमस्ति यथास्थितम् ।
तथापवादतश्चापि नानासूत्रेषु दर्शितम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस प्रकार सूत्र में यथास्थित उत्सर्ग मार्ग बहुत प्रकार से कहा हुआ है। तथा अपवाद भी नाना रूप से सूत्रों में दर्शित है।

अच्चंतियाववाएणं किं पि कत्थइ जंपियं ।
गीयत्थो तादिसं पप्य, कारणं तं करेइ य ॥ ५० ॥

आत्यन्तिकापवादेन किमपि कुत्रचिज्जल्पितम् ।
गीतार्थस्तादृशं प्राप्य कारणं तत् करोति च ॥ ५० ॥

अर्थ—कहीं २ आत्यंतिक अपवाद से भी कुछ कहा हुआ होता है, उसको ऐसे ही कारण के प्राप्त होने पर गीतार्थ आचरते हैं।

तंकरेंतो तहा सो वि मज्जिज्जा तो भवण्णवे ।
एसा आणा जिणाणंतु तं कुणंतो तमुत्तरे ॥ ५१ ॥

तत्कुर्वन् तथा सोऽपि मज्जेन्न भवार्णवे ।
एषाज्ञा जिनानां तु तां कुर्वन् तमुत्तीर्यात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—वे गीतार्थ उस—अपवाद को आचरते हुए भवसमुद्र में नहीं डूबते प्रत्युत यह जिनेश्वरों की आज्ञा है उसको करते हुए उस संसार सागर से पार उतर जाते हैं।

जओ भणिय मिणं सुत्ते

संथरणंमि असुद्धं दुण्हवि गिण्हंत दिंतयाणऽहियं।

आउरदिट्ठंतेणं तं चेव हियमसंथरणे ॥ ५२ ॥

यतो भणितमिदं सूत्रे *

संस्तरणेऽशुद्धं द्वयोरपि गृह्णतो ददतोऽहितम्।

आतुर दृष्टान्तेन तच्चैव हितमसंस्तरणे ॥ ५२ ॥

अर्थ—इसलिये सूत्र में यह कहा है कि—

सुखपूर्वक निर्वाह होते हुए अशुद्ध लेने वाले और देने वाले दोनों का अहित होता है। तो रोगी के उदाहरण से निर्वाह न होने पर अशुद्ध लेने और देने वाले दोनों का हित होता है।

"नय किं पि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।"

एसा तेसिं आणा 'कज्जे सच्चेण होयव्वं' ॥ ५३ ॥

न च किमप्यनुज्ञातं प्रतिषिद्धं वापि जिनवरेन्द्रैः।

एषा तेषामाज्ञा, कार्ये सत्येन भवितव्यम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—श्रीतीर्थंकर भगवान ने एकान्त रूप न किसी कार्य का अनुमोदन ही किया है, न किसी का निषेध ही किया है। यह उनकी आज्ञा है कि "कार्य करते हुए सत्यभाव से सहित होना चाहिये।"

---

* स्थानाङ्ग सूत्र (पृ० ११०) की पहली वृत्ति में।

"दोण्हवि गेण्हत देंतयाणऽहियं।"

मा कुउ जइ तिगिच्छं, अहिया सेऊण जइ तरइ सम्मं ।
अहियासितस्स पुणो, जइ जोगा न हायन्ति ॥ ५४ ॥

मा करोतु यदि चिकित्सां अध्यासोढुं यदि तरति सम्यक् ।
अध्यासहतः पुनर्यदि योगा न हीयन्ते ॥ ५४ ॥

अर्थ—चिकित्सा मत करो यदि भली प्रकार से सहन करना शक्य हो तो। यदि कष्टों को शान्ति से सहन करते हुए योग-मन वचन और काया नष्ट न होते हों तो।

कन्ताररोह मद्धाणा उम (?) गेलन्न माइ कज्जेसु ।
सव्वायरेण जयणाए कुणइ जं साहु करणिज्जं ॥ ५५ ॥

कान्ताररोह विकटाध्वनि ग्लान्यादि-कार्येषु ।
सर्वादरेण यतनया करोति यत्साधुकरणीयम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—भयङ्कर अटवी आदि को पार करते हुए विकट मार्ग के आने पर या रोग आदि कार्यों में जो करने योग्य काम होता है उसको साधु मर्यादा से यतना पूर्वक करता है।

जावज्जीवं गुरुणो सुद्धमसुद्धेण वावि कायव्वं ।
वसहे वारसवासा अट्ठारस भिक्खुणो मासा ॥ ५६ ॥

यावज्जीवं गुरो: शुद्धाशुद्धेण वापि कर्त्तव्यम् ।
वृषभस्य द्वादशवर्षं अष्टादश भिक्षो मासान् ॥ ५६ ॥

अर्थ—यावज्जीवन गुरु की रक्षा परिस्थिति के अनुकूल शुद्ध अशुद्ध तरीके से भी करनी ही चाहिये। चैल को बारह वर्ष पर्यंत और भिक्षु-साधु की अठारह मास तक।

असिवे ओमोयरिए राय पउट्ठे भए य गेलन्ने।
एमाइकारणेहिं आहाकम्माइजयणाए ॥ ५७ ॥

अशिवेऽवमोदरिके (दुर्भिक्षे) राजप्रद्विष्टे भये च ग्लान्ये।
इत्यादिकारणै-राधाकर्मादि यतनया ॥ ५७ ॥

अर्थ—अशिव और दुष्काल के उपस्थित होने पर, राजा के प्रद्विष्ट हो जाने पर, भय की अवस्था में, बीमारी की अवस्था में, इत्यादि कारणों में यतना से आधाकर्म आदि का सेवन होता है।

जओ सिद्धंते वुत्तं—
काले चिय जयणाए मच्छर रहियाण उज्जमंताणं।
जणजत्ता रहियाणं, होइ जइत्तं जईण सया ॥ ५८ ॥

यतः सिद्धान्ते प्रोक्तम्—
काल एव यतनया मात्सर्यरहितानामुद्यमवताम्।
जनयात्रारहितानां भवति यतित्वं यतीनां सदा ॥ ५८ ॥

अर्थ—सूत्र में फरमाया है कि—सदा मात्सर्य रहित, उद्यम में उद्यम शील, लोकयात्रा से रहित साधुओं को काल की यतना ही यतिपना है। अर्थात् समय के जाण साधु ही साधु हैं।

सालंबणो पडंतो वि अप्पाणं दुग्गमे वि धारेइ।
इय सालंबणसेवी धारेइ जइ असढ भावं ॥ ५६ ॥

सालम्बनः पततोऽप्यात्मानं दुर्गमेऽपि धारयति।
इति सालम्बनसेवी धारयति यद्यशठभावम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—सहारे वाला व्यक्ति दुर्गममार्ग में गिरते हुए भी आत्मा की रक्षा कर लेता है। इसी प्रकार सकारण अपवाद का सेवन करने वाला भी यदि सरल भाव को रखता है तो अपने आप को दुर्गति से बचा लेता है।

वुत्तं सिद्धन्तसुत्तेसु-गीयत्थेहिं वि दंसियं।
तमित्थालंबणं होइ, सुठ्ठु पुट्ठं न सेसयं ॥ ६० ॥

प्रोक्तं सिद्धान्तसूत्रेषु-गीतार्थैरपि दर्शितम्।
तदत्रालम्बनं भवति सुष्ठु पृष्टं न शेषकम् ॥ ६० ॥

अर्थ—सिद्धान्तसूत्रों में कहा हुआ और गीतार्थ आचार्यों द्वारा दर्शित मार्ग ही यहाँ पर आलंबन होता है जो कि भली प्रकार पूछा हुआ समझा हुआ होता है। दूसरा नहीं।

साहम्मियाण जो दव्वं, लेइ नो दाउमिच्छइ।
संते वित्ते सगेहेवि होज्जा किं तस्स दंसणं ॥ ६१ ॥

साधर्मिकाणा यो द्रव्यं लाति नो दातुमिच्छति।
सति वित्ते स गेहेऽपि भवेत् किं तस्य दर्शनम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो साधर्मियों के द्रव्य को ले लेता है और अपने घर में धन के होने पर भी देना नहीं चाहता है उसको भी क्या दर्शन सम्यक्त्व हो सकता है ? अर्थात् नहीं।

सयं च लिहियं दिन्नं जाणंतो विहु जंपइ।
मया न लिहियं दिन्नं नो जाणामित्ति मग्गिओ ॥६२॥

स्वयं च लिखितं दत्तं जानन्नपि खलु जल्पति।
मया न लिखितं दत्तं नो जानामीति मार्गितः॥ ६२ ॥

अर्थ—गुद्दने लिया है साधर्मी ने दिया है, फिर भी जो मांगने पर जानता हुआ भी कहता है, न मैंने लिया है न तुमने दिया है, न मैं जानता ही हूँ।

पच्चक्खं सो मुसावाई लोए वि अपभावणं।
कुणंतो छिंदइ मूलं सो दंसण महद्दुमं ॥ ६३ ॥

प्रत्यक्षं स मृषावादी लोकेऽप्यप्रभावनाम्।
कुर्वंश्छेदयति मूलं स दर्शनमहद्द्रुमस्य ॥ ६३ ॥

अर्थ—वह प्रत्यक्ष में मृषाभाषी है लोक में अप्रभावना निंदा को करता हुआ सम्यक्त्व रूप बड़े भारी पेड़ की जड़ को काटता है।

समं साहम्मिएणा वि. राउलं दउलं करे।
हीलयं धरणं जुद्धं, सो विहु नासइ दंसणं ॥ ६४ ॥

समं साधर्मिकेणापि राजकुलं देवकुलं कुर्यात् ।
हेलनं धरणं युद्धं सोऽपि खलु नाशयति दर्शनम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—जो साधर्मिक के साथ भी राज दरबार करता है हीलणा-तिरस्कार करता है, धरणा देता है, युद्ध करता है वह अपने सम्यक्त्व का नाश करता है ।

साहू वा सावगोवावि साहूणी सावियाइ वा ।
वाडिप्पाया वि जे संति गुरुधम्मदुदुमस्स ते ॥ ६५ ॥

साधुर्वा श्रावको वापि साध्वी श्राविकादिर्वा ।
वृत्तिप्राया अपि ये सन्ति गुरुधर्मद्रुमस्य ते ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो साधु श्रावक, साध्वी और श्राविकायें भी बड़े धर्मरूप पेड़ की रक्षा करने वाली बाड के जैसे है वे ।

पालणिज्जा पयत्तेण, वत्थपाणासणाइणा ।
सायरं सो न तेसिं तु करिज्जा समुवेहणं ॥ ६६ ॥

पालनीयाः प्रयत्नेन वस्त्रपानासनादिना ।
सादरं स न तेषां तु कुर्यात् समुपेक्षणम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—वस्त्र खान पान आदि से आदरपूर्वक पालने योग्य हैं । उनकी उपेक्षा कभी भी नहीं करनी चाहिये ।

जइ सो वि निग्गुणो नाउं समईए वि निंदई ।
सा वाडी उक्खया तेण संति धम्मदुदुरक्खगा ॥६७॥

यदि सोऽपि निर्गुणो ज्ञात्वा स्वमत्यापि निन्दति।
सा वृत्तिरुत्क्षता तेन सती धर्मद्रुरक्षिका ॥ ६७ ॥

अर्थ—यदि वह निर्गुण जान करके भी स्वच्छन्दतया निंदा करता है तो उसने उस धर्मवृक्ष की रक्षिका बाड को ही तोड़ दी है।

आणा वि तेण सा भग्गा गुरुणो सोक्खकारिणी।
मिच्छदिट्ठितओ सो वि लद्धुं तल्लक्खणावलिं ॥६८॥

आज्ञापि तेन सा भग्ना गुरोः सौख्यकारिणी।
मिथ्यादृष्टितया सोऽपि लब्धुं तल्लक्षणावलीम् ॥६८॥

अर्थ—उसने मिथ्यादृष्टिभाव से, और मिथ्यादृष्टि के चिर-दुर्गति की परंपरा पाने को परमसुख करनेवाली गुरुमहाराज की आज्ञा भी खण्डित कर दी।

जणेइ निव्वुइं जन्तु-जायं फलमणुत्तरं।
गुरुधम्मदुमाहिंतो तेण तं पि हु हारियं ॥ ६९ ॥

जनयति निर्वृतिं यत्तु जातं फलमनुत्तरम्।
गुरुधर्मद्रुमात् तेन तदपि खलु हारितम् ॥६९॥

अर्थ—जो निर्वृति को पैदा करता है ऐसा बड़े धर्मवृक्ष से पैदा हुआ अनुत्तरफल उसको भी उसने निश्चय करके हार दिया।

चोयणं पि हु सो देइ जो दाउं जाणइ तयं।
परदुन्नयणं सोच्चा जो रोसेण न जिप्पइ ॥ ७० ॥

नोदनमपि खलु स ददाति यो दातुं जानाति तकन।
परदुर्वचनं श्रुत्वा यो रोषेण न जीयते ॥ ७० ॥

अर्थ—दूसरे के दुर्वचनों को सुन कर जो रोष मे पूर्ण नहीं हो जाता वही महापुरुष दूसरो को धर्म मे प्रेरणा करता है और प्रेरणा करना भी जानता है।

नाहंकारं करेइत्ति मायामोहविवज्जिओ।
सव्वंजीवहियं चित्ते जस्सत्थि सुविवेयओ ॥७१॥

नाहंकारं करोतीति मायामोहविवर्जितः।
सर्वजीवहितं चित्ते यस्यास्ति सुविवेकतः ॥७१॥

अर्थ—जिसके चित्त मे सुविवेक से सब जीवों का हित रहा हुआ है। वह मायामोह से रहित व्यक्ति कभी अहंकार को नहीं करता।

जा कावि गुरुणो आणा सुद्धसद्धम्मसाहिगा।
कहिया हियाय सम्मं कायव्वा विहिणा य सा ॥ ७२ ॥

या कापि गुरोराज्ञा शुद्धसद्धर्मसाधिका।
कथिता हिताय सम्यक् कर्त्तव्या विधिना च सा ॥७२॥

अर्थ—शुद्ध सद्धर्म को साधने वाली जो कुछ भी गुरु महाराज की आज्ञा थी। हित के लिये कही है। हितैषियों के विधिपूर्वक उसे पालनी चाहिये।

संखेवेण मिहुत्तमागमसयं गीयत्थसत्थोचियं,
कीरंतं गुणहेउनिव्वुइकरं भव्वाण सव्वेसि जं।

साहूणं समणीगणस्सय सया सड्ढाण सड्ढीण य,
सिक्खत्थं जिणचंदसूरिपयवीसंसाहगं सव्वहा ॥७३॥

संक्षेपेणेहोक्तमागममयं गीतार्थशास्त्रोचितं ।
कुर्वद् गुणहेतु निर्वृतिकरं भव्यानां सर्वेषां यत् ॥
साधूनां श्रमणीगणस्य च सदा श्राद्धानां श्राद्धीनां च ।
शिक्षार्थं जिनचन्द्रसूरिपदवीसंसाधकं सर्वथा ॥७३॥

अर्थ—यहां संक्षेप से आगमसम्मत और गीतार्थों के सिद्धान्त के अनुकूल गुण कारण को प्रकटाने वाला, सब भव्यात्माओं को निर्वृत्ति करने वाला साधु-साध्वी समुदाय को और श्रावक श्राविका समूह को शिक्षा देने के लिये सर्वथा श्रीजिनचन्द्रसूरि (तीर्थंकर और आचार्य) पद को साधनेवाला विषय कहा है। इसमें "जिणचंदसूरि" इस पद से कर्त्ता ने स्वनाम भी सूचित किया है।

एयं जिणदत्ताणं करेइ जो कारवेइ मन्नेइ ।
सो सव्वदुहाण लहुं जलंजलिं देइ सिव मेइ ॥७४॥

एतां जिनदत्ताज्ञां करोति य कारापयति मानयति ।
स सर्वदुःखेभ्यो लघु जलाञ्जलिं ददाति शिवमेति ॥७४॥

अर्थ—इस प्रकार जिन भगवान की दी हुई [और श्रीजिनदत्तसूरि गुरुदेव की] आज्ञा को जो आचरता है दूसरों से आचरण करवाता है, मानता है वह सब दुःखों को शीघ्र जलाञ्जलि देता है और मोक्ष में पहुंचता है।

साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका शिक्षा कुलकम्

समाप्तम्

परिशिष्ट (२)

॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥

श्री कपूरमल्ल विरचितम्

ब्रह्मचर्य परिकरणम्

पउम रयणाइ रइया, भासुरकिरणेहिं नहयलं चित्तं ।
देविंदमउलिलच्छी, नमिय जिणं वसइ कमकमले ॥ १ ॥
णिज्जियअणंगवीर, सुद्धप्पा झायमाण त वीरं ।
निमिय सिरिधम्मसिहरं, वंभवयं सु नध वोच्छामि ।२। युग्मं
तं वंभवयं दुविहं, दव्वं भावं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
जो चरइ सम्मणाणी, णिव्वाणसुहं च पावेइ ॥ ३ ॥
वंभं भणियइ आया, तस्स सरूवं च चरइ जो साहू ।
सो भाववंभचरणं इत्थीवायेण दव्वो य ॥ ४ ॥
नरतिरियदेवइत्थी उवलाइय धाओ दारुचित्तंगा ।
मणवयणकायचाये नवकोडिविसुद्ध सो साहू ॥ ५ ॥
चारित्तमोहउदये इत्थीरूवेण रंजिओ मूढो ।
ते खुद्द अवयठाणा पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ६ ॥
परिहरह एस इत्थी कुच्छियमलधाओ असुइठाणं च ।
सूडपडणगलणधम्मा रागविसं कारिणी वह्नी ॥ ७ ॥

जह घडु मइराभरियो चंदणकुसुमेहि पूइयो उवरि ।
स कहं हवइ विसुद्धो तह असुइसरीरगं जाण ॥ ८ ॥
जइ अत्थि भक्खवंतो सुणहो गल्लेहि रुहिरनिस्सरई ।
तं णियमलेण रज्जइ तह मूढो रंजए विसए ॥ ९ ॥
पुन्नुदयविसयसुक्खं भुजंतो जीउ बंधए पाव ।
पुन्नखएणं खीयइ सो णाणी जो परिच्चयइ ॥ १० ॥
जो परदेहविरत्तो णियदेहेण य करेइ अणुरायं ।
अप्पसहावे सुरयं सो णीरावो हवइ साहू ॥ ११ ॥
इयं असासई बुंदी तम्मि पेमं न धारये ।
झाएह एगमप्पाणं जं पावेह धुवं पयं ॥ १२ ॥
असुई असासई जो पगया चय असुहबंधकारिणा ।
इह दिव्वमहालच्छी सा एगा वरहु वरंगणा ॥ १३ ॥
सुइ सुह सासई जा मोक्खागिणि णिम्मलो य सिरिवसइ ।
पुणरवि न देइ गमणं अइरुद्धा भोगिणी सुजना ॥ १४ ॥
तम्मिय जराण मच्चू अभियरसं अमरपाणिचंगाभा ।
सारमहुसिद्धिरमणी अणतसुहकारिणी लच्छी ॥ १५ ॥
जइ चयइ अण इत्थी णिम्मलरयणेहि मंडुओ समए ।
आयरइ तया लच्छी णिरुवमसुह देइ सा रंभा ॥ १६ ॥
जो हवइ वीयरागो केवलमहरयणभूसियसरीरो ।
सो रमइ सिद्धिरमणी नय अन्नो जिणवरो भणइ ॥ १७ ॥
परं विसुद्धिमाराइ तं पयाइ सिद्धिलच्छीयमंदिरं ।
भुंजइ अणंतसुहरं सुहं निइं सासदिव्वं ॥ १८ ॥

सपरं वाधा सहियं विछिन्नं वंधकारणं विसमं ।
इय पंचमलविमुक्कं तं सुद्धं जिणवरो भणइ ॥ १६ ॥
अइसयमायसमुत्थं णिपन्नं णिच्चतं हवइ सिद्धं ।
इंदेहिं अणंतगुणं अणोवमं तं महादिव्वं ॥ २० ॥
संपुण्णविमलणाणं दंसणसुहसत्तिवीरियनिवासं ।
सिद्धं वुद्धं णिच्चं तं वंदे लोयसिहरत्थं ॥ २१ ॥
तित्थयरचक्कवट्टी गब्भं धारंति पुरिसरयण च ।
ते सलहिज्जइ इत्थी अह सीलवईय न य अन्नं ॥ २२ ॥
सासंगि दोसदीवहिं णियगुणरयणेहिं लुंचियो होइ ।
पंचमहव्वयनासो भुजतो दुग्गइं जाइ ॥ २३ ॥
तम्हाहुजिणिन दिट्ठी अप्पसुहं दुक्खकारिणी वहुगा ।
दिट्ठेहिं रागभावो सो सिवसुक्खं च विग्घकरो ॥ २४ ॥
अरिणिज्जियजिणराये रागाइ य जेहि रक्खिया चित्ते ।
तिहिं कह हवइ पसन्नो जिहिं कढ्ढिय तेहिं सतुट्ठो ॥ २५ ॥
तइ दीय सिद्धिलच्छी अमियकरा पुन्नचंदसारिच्छा ।
भरहादिवसगराई जिहिं कारणि चइय वहुइत्थी ॥ २६ ॥
तिहि गहिय सुद्धचरणं सुद्धप्पाधम्मझायमाणाणं ।
लद्धं केवलणाणं भरहाइयसिवसुह पत्ता ॥ २७ ॥

यदुक्त दशाश्रुतस्कन्धे ।

आयगुत्तेसु सुद्धप्पा धम्मे ठिच्चा अणुत्तरे ।
इहेव लभते किर्त्ति पच्छाय सुगतिं वर ॥ २८ ॥

जो झायइ परमप्पा णाणमयं रागभावरहियं च।
सो गच्छइ सिवलोयं उज्जोयंतो दसद्दिसाओ ॥ २९ ॥
जो चरइ बंभचरणं अणेगगुणसेणि आरुहइ साहू।
सो पावइ सिद्धसुहं णीरावो जो हवइ विसये ॥ ३० ॥
आराहणा य तिविहा णाणं दंसणचरित्तठाणंगे।
तं तिय मयसो आया आराहइ सिद्धसुहकज्जे ॥ ३१ ॥
जो रयणत्तयमइओ णियदव्वं मुक्खकारणं भणियं।
अन्ने जे परदव्वा सुहाऽसुहं बंधहेउ त्ति ॥ ३२ ॥
सुहदव्वेणं पुन्नं असुहं पावंति कुणइ जो रागो।
परिणामोऽनन्नगओ दुक्खक्खयकारणं समए ॥ ३३ ॥
जो सुद्धणाणरूवं संजमतवसाहिभावए अप्पा।
सोऽसग्गदुक्खकारणकम्मपये सारवय कुणइ ॥ ३४ ॥
जो परदव्वं गिन्हइ अवराही होइ चक्काए लोये।
परदव्वं जो न गिन्हइ सो साहु न बंधए कोइ ॥ ३५ ॥
अप्पाउ चुकसाहू सो बज्झइ सत्तअट्ठकम्मेहि।
अप्पधम्माओ न चुओ कम्मेहि अबंधगो होइ ॥ ३६ ॥
जो अप्पाणं जाणइ पुग्गलकम्माओ भावओ अन्नं।
सुद्धं जाणग भावं सो सव्वं जाणए सव्वं ॥ ३७ ॥
जो रयणत्तयधम्मो सो पहु आया भणंति सव्वन्नू।
तं झाएह परमपयं पमायरहिएण सुहकज्जे ॥ ३८ ॥
तं दंसणं जं पिच्छइ तं णाणं जेण मुणइ जीवाणं।
मुणिऊणि तंमि रमणइ तं परमं भणइ सव्वन्नू ॥ ३९ ॥

जो परदव्वेण रवो णियदव्वसहावभावणालीणो।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसागरं तरइ ॥ ४० ॥
पालयइ वंभचरणं णिम्मलणीरागमणसंमाहीए ।
सो वयइ वंभलोयं अणंतसुहठाणगं भणियं ॥ ४१ ॥
संपयवंभवयावो भासुरदेविज्जवरविमाणं च ।
पावइमणुन्नभोयं तत्थ चुया णिव्वुयं जंति ॥ ४२ ॥
एवं पवयणसारं वंभवयं अमियपाणसारिच्छं ।
जो चरइ भव्वजीवो संसारविसं निवारेइ ॥ ४३ ॥
भावं जिणपन्नतं णिस्संकिय जोहु सद्दहइ जीवो।
सो हवइ सम्मदिट्ठी अमियसुहं पावए विउलं ॥ ४४ ॥
एसो पवयणसारो सिरिजिणवरगणहरेंहिं पन्नतो।
गुरुजिणदत्तपसाया लिहियो कप्पूरमल्लेहिं ॥ ४५ ॥
संपइ गणाहिपवरो णिम्मलगुणरयणरोहणसरिच्छो ।
सिरिजिणचंदमुणिंदो दीवग इव दीवए लोए ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीब्रह्मचर्यपरिकरण सम्मतं ॥

परिशिष्ट (३)

महत्तियाण जाति

प्रस्तुत निबन्ध में हम एक ऐसी जाति का परिचय देंगे जिसका नाम मात्र शिला-लेखों और कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में ही अवशेष है। जिस जाति वालों ने पूर्व प्रान्तीय जैन तीर्थों के जीर्णोद्धार आदि में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है अथवा दूसरे शब्दों में यों कहें कि वर्त्तमान पूर्व प्रान्तीय जैनतीर्थ जिनके सद्द्रव्य और आत्मभोग के ही सुपरिणाम हैं, एवं जो केवल २०० वर्ष पूर्व एक अच्छी संख्या में विद्यमान थे, उनकी जाति का आज एक भी व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता, यह कितने बड़े खेद की बात है[1]।

नाम और प्राचीनता

इस जाति का शुभनाम प्रसिद्ध लोक-भाषा में 'महतियाण' और शिलालेखादि में 'मन्त्रिदलीय' भी पाया जाता है।

१ बिहार के महतिआण (मंतियाण) [illegible] में मात्र दो [illegible], इस जाति के अधिकांश [illegible] विद्यमान हैं जो हमारे [illegible] कथन के [illegible] [illegible] नहीं [illegible] ।

शिलालेखों के कथनानुसार इस जाति की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन है। प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र महाराजा श्री भरत चक्रवर्ति के प्रधान-मन्त्री श्रीदल[1] के नाम से उनकी सन्तति का नाम भी 'मन्त्रिदलीय' प्रसिद्ध हुआ। मन्त्री शब्द का अपभ्रंश "महता" हैं, अतः उनके वशजों की जाति का नाम भी उसी शब्दानुसार 'महत्तियाण' कहलाने लगा ऐसा ज्ञात होता है।

प्रतिबोधक आचार्य

इस जाति को प्रतिबोध देकर जैन बनाने का श्रेय खरतर-गच्छाचार्य श्रीजिनचन्द्रसूरि[2] को है। शिला-लेखों और पट्टावलियों में इस सम्बन्ध में जो उल्लेख प्राप्त है, उनके आवश्यक उद्धरण इस प्रकार हैं:—

१ "नरमणिमण्डित मस्तकाना प्रतिबोधित प्राग्देशीय महत्तियाणि श्रावक वर्गाणा"

(हमारे संग्रहस्थ १६ वीं शताब्दि मे लिखित पट्टावली)

२ "नरमणि मण्डित भालो महत्तियाण श्रावक प्रतिबोधकः"

(समयसुन्दरजी कृत खरतरगच्छ पट्टावली)

३ "नरमणिमण्डितभालः श्रीजिनदत्तसूरिभिः स्वहस्तेन पट्टो

---

१ श्रीऋषभजिनराज प्रथम चक्रवर्त्ति श्री भरत महाराज सकल मन्त्रि-मंडल श्रेष्ठ मन्त्रि श्रीदल सतानीय महत्तिआण ज्ञाति + (पावापुरी शिलालेख)

२ श्रीजिनचन्द्रसूरि —ये श्रीजिनदत्तसूरिजी के शिष्य थे।

स्थापितः पूर्वास्यां दशवर्षाणि स्थित्वा महत्ति-आण श्राद्धः प्रतिबोधकः ।

(खरतर गच्छ पट्टावली संग्रहः पृ० ११)

४ 'श्रीजिनचन्द्रसूरि ' (सम्वेगरंगशाला प्रकरणकर्त्ता) केचिदन्य ज्ञातीय राज्याधिकारिणोऽपि श्राद्धाः जाता तेभ्यः प्रति पातिशाहिना बहु महत्त्वं दत्तम् ततस्तेषा 'महतीयाण' इति गोत्र स्थापना कृता । तद्गोत्रीयाः श्रावकाः "जिनं नमामि, वा जिन-चन्द्र गुरुं नमामि, नान्यम्" इति प्रतिज्ञावन्तो बभूवु"

(क्षमाकल्याणजी कृत पट्टावली, ख० प० संग्रह पृ० २३)

५ 'श्रीजिनचन्द्रसूरि (संवेगरंगशाला कर्त्ता) :—धनपाल कटाकजाता महत्तिआण गोत्रीया इति ।

"महुत्तिआणह्वा हुइ नमइ कइ जिण कइ जिणचंद"

(खरतर गच्छ पट्टावली संग्रह पृ० ४५)

६ "श्री बृहत्खरतर-गच्छीय नरमणिमण्डित भालस्थल श्रीजिनचन्द्रसूरि प्रतिबोधित महत्ति-आण श्रीसंघ कारितः

(पावापुरी तीर्थस्थ सं० १६६८ का लेख श्री पूरणचन्दजी नाहर कृत जैन लेख संग्रह ।)

उपरोक्त ६ अवतरणों में नं० १-२-३-६ मे मणिधारीजी और नं० ४-५ में संवेगरंगशाला कर्त्ता जिनचन्द्रसूरिजी को इस जाति के प्रतिबोधक आचार्य लिखा है । किन्तु इसमें भी परिचय प्रायः

१ खरतर बिरुद तो श्री जिनेश्वरसूरिजी के लिए थे ।

मणिधारीजी का ही दिया है अतः ज्ञात होता है कि नाम साम्य की भ्रान्ति से वे बात संवेगरंगशालाकर्त्ता श्रीजिनचन्द्रसूरिजी के साथ लगा दी है। इन दोनों आचार्यों के समय में लग-भग १०० वर्षों का अन्तर है. परन्तु दोनों का एक ही नाम होने के कारण यह भ्रान्ति हो जाना सम्भव है। इन प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस जाति से प्रतिबोधक खरतर गच्छाचार्य श्रीजिनचन्द्रसूरि थे।

इस जाति वालों की एक प्रतिज्ञा

नं० ४-५ के अवतरण से इस जातिवालों की एक महत्त्व-पूर्ण प्रतिज्ञा का पता लगता है। वह प्रतिज्ञा यह थी कि "हम या तो श्रीजिनेश्वर भगवान को या श्रीजिनचन्द्रसूरि (एवं उनके अनुयायी साधुसंघ) को ही वन्दन करेंगे दूसरों को नहीं" इससे उनके सम्यक्त्व गुण की दृढ़ता एवं अपने उपकारी खरतर-गच्छाचार्यों के प्रति अनन्य श्रद्धा का अच्छा परिचय मिलता है।

उपर्युक्त बात की पुष्टि स्वरूप इस जाति वालों ने जिन-बिम्ब और जिनालयों की सभी प्रतिष्टाएं खरतर गच्छाचार्यों द्वारा ही कराई है।

श्रीजिनकुशलसूरिजी के पट्टाभिषेक महोत्सव में भी इसी जाति के ठक्कुर विजयसिंह ने बहुतसा द्रव्य व्यय [१] किया था, जैसा कि श्रीजिनकुशलसूरि पट्टाभिषेक रास में लिखा है:—

१ बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर द्वारा प्रकाशित खरतर-गच्छ-पट्टावली संग्रह पृ० ३०।

"त विजयसिंह ठक्कुर पवरो महत्तिआण कुलि सार।
तउ नामु ठामु नए अप्पियउ तउ गोल्हु मउ गणधार।८।
त गुज्जर धर मंडणउ अणहिल्लवाडउ नामु।
त मिलिय संघ समुदाइ तहि महतिआण अभिरामु॥ ९॥

(हमारे सम्पादित "ऐतिहासिक-जैन-काव्य संग्रह" पृ० १६)

उपर्युक्त श्रावक ठक्कुर विजयसिंह की गुरुभक्ति की प्रशंसा बड़ी २ उपमाओं द्वारा इसी रास में इस प्रकार वर्णित है:—

त आइहि ए, आदि जिणंद भरहु, नेमि जिन नारायण
पासह ए, जिम धरणिन्दु जिम सेणिग गुरु वीर जिणु,
तिण परि ए, सहगुरु भत्ति महतिआण पवि सल्लहिय ए,
पडिहत्तए, तहि पडिपुन्न विजयसीहु जगि जगि लियउ ए,

परमार्हत ठक्कुर विजयसिंह के पुत्ररत्न ठक्कुर बलिराज की गाढ़ अभ्यर्थना से खरतरगच्छीय श्रीतरुणप्रभाचार्य ने "षडावश्यक बालावबोध वृत्ति" की रचना की थी, जैसा कि इस ग्रन्थ की निम्न प्रशस्ति से ज्ञात होता है:—

"संवत् १४११ वर्षे दीपोत्सव दिवसे शनिवारे श्रीमदणहिल्ल पत्तने महाराजाधिराज पातसाहि श्री पीरोजसाहि विजयराज्ये प्रवर्त्तमाने श्री चंद्रगच्छालंकार श्रीखरतरगच्छाधिपति श्री जिनचन्द्रसूरिशिष्यलेश श्रीतरुणप्रभसूरिभिः श्रीमंत्रिदलीय वंशावतंस ठक्कुर वाहड सुत परमार्हत ठक्कुर विजयसिंह सुत श्री जिनशासन प्रभावक श्री देवगुर्वाज्ञा चिन्तामणि विभूषित मस्तक श्रीजिनधर्म कर्पूरवासित सुवासित सदाभाव परमार्हत

ठक्कुर वलिराजकृत गाढाभ्यर्थनया षडावश्यकवृत्ति सुगमा बालाववोधकारिणी सकल सत्त्वोपकारिणी लिखिता ।

छ.। शुभमस्तु ॥ छः ॥"

(सं० १४८२ लिखित प्रति, वीकानेर ज्ञानभंडार मे से)

कुलीनता

इस जाति की कुलीनता और उच्चता ओसवाल, श्रीमालादि जातियों से किसी तरह न्यून नहीं थी। श्रीजिनपतिसूरिजी कृत समाचारी [1] के अन्त मे खरतरगच्छ मे आचार्यों, उपाध्यायों, महत्तरा आदि पदों के योग्य कुलो की जो व्यवस्था की गई है उनमें महत्तिआण जाति को भी वीसा ओसवाल, श्रीमालों की भाति आचार्य पद के योग्य वतलाई गई है।

लेखों की सूची

इस जातिवालों के निर्माण कराये हुए जिन विम्व व जीर्णोद्धारों के उल्लेखवाले वहुत से शिलालेख इस समय उपलब्ध हैं। जिनमे से वाबू पूरणचन्दजी नाहर द्वारा सम्पादित 'जैन लेख संग्रह' के भाग १-२-३ आदि के लेखों की संवतानुक्रम सूची तथा अन्य सूचिया नीचे दी जाती है। जिससे पाठकों को उनके उत्कर्ष एवं सुकृत्यों का संक्षिप्त परिचय हो जायगा।

---

१ उ० श्री जयसागरजी सकलित श्रीजिनदत्तसूरि चरित्र उत्तरार्द्ध में प्रकाशित।

सं० १४१२ आषाढ कृष्णा ६ २३६

सं० १४३६ फाल्गुन शुक्ला ३ १०५६

सं० १५०४ फाल्गुन शुक्ला ६ २७०, २३६, २५३,
१७१, १७८, १८४६, १८५४, १८५५, १८५६

सं० १५१६ वैशाख शुक्ला १३ ४८२

सं० १५१६ आषाढ़ कृष्णा १ २४७१, २१६, ४१८,
४१६, २८१, २१५, २१७, ४८, १६१

सं० १५१६ आषाढ़ कृष्णा १० १८६

सं० १५१६ आषाढ शुक्ला १० १०३

सं० १५२३ वैशाख शुक्ला १३ ११५७

सं० १५२७ माघ कृष्णा ५ १६

सं० १५८६ वैशाख सुदि १५ २७१

सं० १५८८ (१५८६) ,, ,, १७३

सं० १५६८ वैशाख शुक्ला ५ १६२, १६०, १६१

सं० १७०२ माघ शुक्ला १३ १६८

श्रीमद् बुद्धिसागरसूरिजी सम्पादित "जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह" भा० १-२ में :—

सं० १५१५ आषाढ सुदि ५ ......

सं० १५१२ आषाढ सुदि २ १५७३

सं० १५१६ आषाढ सुदि १ ५१६, ५८७

सं० १५३६ १३३८

मुनिराज श्रीजयन्तविजयजी सम्पादित 'अर्बुदगिरि शिलालेख संग्रह' में :—

सं० १४८३ लेखांक १७६

हमारे संगृहित 'बीकानेर जैन लेख संग्रह' में :—

सं० १५२३ वै० सु० १३ अजितनाथजी का मन्दिर

श्रीजिनविजयजी सम्पादित 'प्राचीन जैन लेख संग्रह' भा० २ में:—

सं० १४८५ कार्तिक शुक्ला ५ ५९

सं० १४९६ आषाढ़ शुक्ला १३ ६०

(ये दोनों लेख गिरनार यात्रा के हैं)

गोत्रों के नाम

उपरोक्त शिलालेखों में इस जाति के बहुत से गोत्रों के नाम उपलब्ध होते हैं जिनकी नामावली इस प्रकार है :—

उसिवड १८६, १४०७ (बु)	बापड़ा २१६, १३७८ (बु)
काग १०३, १६१, १६२, २१५, २१७, २७०, ३८१, ४१८, ४१९, ६६१ (बु)	बांठिया १९२
	सवला १६२
	मनेला १६१७
कटड़ा १९२	महवा १६६७
चोरड़ा १७६, १९०, १९८, २४५, २७१, १९६, १९२	पाहड़िया १६९७
	मोगनाग १६६७
डीडियाल १९२	बजागरा १६९७

जाटड़ २३९, २५६
दान्हूगा १९२
डुंगड़ १९
नान्डा १९२, ६० (जि०स०भा० २)
थालिडिया १६७
मुहतोड़ १७१, १७२
रोहड़िया ९०
जूंक १६९७
मुठ ११५७
नगाड़ ४८७ (बुद्धिसागरसूरि सम्पादित [1])
गुनामड़ ५९ (जिनवि० सम्पादित भा० १-२)

जिस जाति के गोत्रों की संख्या केवल प्रतिमा लेखों में इतनी प्राप्त हो उस जाति वालों की जनसंख्या कितनी अधिक होनी चाहिये इसका अनुमान पाठकगण स्वयं कर लें।

निवासस्थान और गृह-संख्या

इस जातिवालों का निवासस्थान कौन कौन से प्रान्तों में और किन किन नगरों में था, इसके विषय में सतरहवीं शताब्दी में लिखे हुए हमारे संग्रह के एक पत्र से अच्छा प्रकाश पड़ता है। यद्यपि इस पत्र में थोड़े से स्थानों (घरों की संख्या के साथ) के ही नाम हैं, तो भी वह विशेष उपयोगी होने से पाठकों की जानकारी के लिये, उसका अंश हम यहां उद्धृत करते हैं।

श्री महुत्तियाण खरतर श्रावक इतरे ठामे ठामे वसइ छइ.—

१ घर २५ बिहार। तत्र पांपलिया
२ घर २० माणिकपुर

1 अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल से प्रकाशित।

३ घर ५ पटणइ
४ घर २ वारि (वाढ़)
५ घर ३ भागलपुर
६ घर १ वांगर मऊ
७ घर ४ जलालपुर
८ घर २० सहारणपुर। गंगापारेपि केपि।
९ घर २० अमदावादे
माजनई सर्व घर १००

इससे पहिले के शिलालेखों और खरतरगच्छ की वृहत् गुर्वावली में दिल्ली, जवणपुर (जौनपुर), डालामऊ, नागौर आदि स्थानों में भी इस जाति के प्रतिष्ठित धनीमानी श्रावकों के निवास करने का उल्लेख पाया जाता है। विहार तो इनका प्रमुख निवासस्थान था- जिसका परिचायक वहाँ अब भी "महत्तियाण मुहल्ला" नाम से प्रसिद्ध एक मुहल्ला है और वहाँ उन्हीं के बनाये हुए जिनालय और धर्मशाला विद्यमान हैं।

चौदहवीं शताब्दि से सतरहवीं शताब्दि पर्य्यंत मंत्रिदलीय लोगों की बड़ी भारी जाहोजलाली ज्ञात होती है। वे केवल धनवान ही नहीं परन्तु बड़े-बड़े सत्ताधीश एवं राजमान्य व्यक्ति थे। अपने उपगारी खरतर-गच्छाचार्यों की सेवा, तीर्थयात्रा, संघभक्ति, और अर्हन्तभक्ति मे इस जातिवालों ने लाखों रुपये खुले हाथ से व्यय कर अपनी चपला लक्ष्मी का सदुपयोग किया था।

खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावली[1] में इनके सुकृत्यों का मनोज्ञ एवं श्लाघनीय वर्णन भी मिलता है, जिसका संक्षिप्त सार यहाँ लिया जाता है।

संवत् १३७५ में कलिकालकेवली श्रीजिनचन्द्रसूरि के साथ दिल्ली के ठक्कुर विजयसिंह, रुद्रा (कालासर के) अचलसिंह ने फलवर्द्धि पार्श्वनाथ की यात्रा की थी और वहाँ ठ० सेरु ने बारह सहस्र द्रव्य देकर इन्द्रपद प्राप्त किया था, एवं इसी वर्ष में ठक्कुर प्रतापसिंह के पुत्ररत्न अचलसिंह ने कुतुबुद्दीन सुरत्राण से सर्वत्र निर्बाध यात्रा के निमित्त फरमान प्राप्त कर संघ सहित हस्तिनापुर, मथुरा आदि अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। एवं मार्ग में कुतुबुद्दीन सुरत्राण की कैद से नगरकपुरीय आचार्य को छुड़ाया था।

संवत् १३७८ में ठक्कुर[2] आसपाल के पुत्र जगतसिंह ने श्रीजिनकुशलसूरिजी आदि संघ के साथ आरासण तारङ्गा आदि तीर्थों की यात्रा की थी। सं० १३८० में संघपति रयपति के संघ में मन्त्रिदलीय सेठ राघनपाल भी मुख्य सुश्रावकों में थे। सं० १३८१ में श्रीजिनकुशलसूरिजी संघ के साथ भाभुका नगर में पधारे उस समय ठक्कुर इन्द्रराज ने सपयारातल्ल आदि कार्यों द्वारा जैन धर्म की प्रभावना की थी। सं० १३८३ में श्रीजिनकुशलसूरिजी के जालौर पधारने पर मन्त्रिदलीय सेठ भोजराज

१ इस गुर्वावली के [illegible]

२ इस [illegible]

के पुत्र मं० सलखणसिंह आदि ने फाल्गुन कृष्णा ६ से लगातार १५ दिनों तक पूज्यश्री के पास प्रतिष्ठा, व्रतग्रहण, उद्यापनादि नन्दिमहोत्सव बड़े समारोह से सम्पन्न करवाये। सं० १३८३ फाल्गुन कृष्णा ६ को राजगृह के "वैभारगिरि" नामक पर्वत के शिखर पर ठ० प्रतापसिंह के वंशधर अचलसिंह ने चतुर्विंशति जिनालय निर्माण कराया था, उसके मूलनायक योग्य श्रीमहावीर स्वामी एवं अन्य तीर्थङ्करों की पाषाण एवं धातुनिर्मित बिम्बों की प्रतिष्ठा श्रीजिनकुशलसूरिजी के करकमलों से सम्पन्न हुई थी[1]।

उपसंहार

इस प्रकार उपलब्ध साधनों के द्वारा जो कुछ भी इस जाति के विषय में ज्ञात हुआ वह इस लेख में संक्षिप्त रूप से लिख दिया गया है। इससे विशेष जानकारी रखनेवाले सज्जनों से अनुरोध है कि वे इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने की कृपा करें।

[ओसवाल नवयुवक वर्ष ७ अंक ६ से उद्धृत]

---

१ सं० १४१२ में उत्कीर्ण राजगृह पार्श्व जिनालय प्रशस्ति में श्री जिनकुशलसूरिजी के द्वारा विपुलगिरि पर ऋषभदेव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाने का उल्लेख है। उक्त प्रशस्ति बड़े महत्व की है और अनुवाद श्री जिनविजयजी सम्पादित 'प्राचीन जैन लेख संग्रह' में भी प्रकाशित है।

विशेष नामावली

[illegible]

---

* पुस्तक के टिप्पण मे भूल से इसके स्थान में वीरसिदा छप गया है। पाठक सुधार लें।